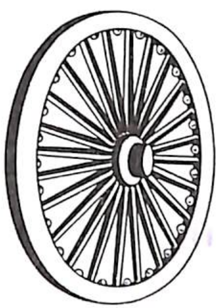
महासतिपट्ठानसुत्त

(भाषानुवाद एवं समीक्षा सहित)

विपश्यना विशोधन विन्यास
इगतपुरी

महासतिपट्ठानसुत्त

(भाषानुवाद एवं समीक्षा सहित)



विपश्यना विशोधन विन्यास
इगतपुरी

Rs - 30 ==

प्रथम आवृत्ति १९९६

प्रकाशक:
विपश्यना विशोधन विन्यास,
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२४०३, नाशिक, महाराष्ट्र
फोन: ०२५५३-४००६, ४०८६, ४०३२.
फैक्स: (९१) ०२५५३-४१७६.

मूल्य : रु. Rs/- 30 ==

ISBN: 81-7414-142-1

मुद्रक:
अपोलो प्रिंटर्स
३१३, जोगानी एस्टेट, जे. आर. बोरिचा मार्ग
लोअर परेल, मुंबई – ४०० ०११

अत्तदीपा ततो होथ, सतिपट्ठानगोचरा।
भावेत्वा सत्तबोज्झङ्गे, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ॥

– महापजापतिगोतमी थेरी

(स्मृतिप्रस्थान की गोचरभूमि में रमण करते हुए अपने द्वीप स्वयं बनो। तुम सात बोध्यंगों की भावना कर दुःख का अंत कर लोगे।)

विषय-सूची

[१] सुत्त एक नजर में

एक समय भगवान कुरु-प्रदेश में कुरुओं के निगम कम्मासधम्म में विहार करते थे। उस समय भिक्षुओं को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि ये जो चार स्मृति-प्रस्थान हैं वे सत्त्वों की विशुद्धि, शोक और क्रंदन का विनाश, दुःख और दौर्मनस्य का अवसान, सत्य की प्राप्ति, निर्वाण का साक्षात्कार – इन सब के लिए अकेला मार्ग है।

चार स्मृति-प्रस्थान हैं – लोलुपता और दौर्मनस्य को दूर कर, स्मृति और संप्रज्ञान के साथ, उद्योगशील हो, काया में कायानुपश्यी होकर विहरना, और ऐसे ही वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर, चित्त में चित्तानुपश्यी होकर और धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहरना।

'कायानुपश्यना' के लिए भिक्षु किसी निर्जन स्थान पर जाकर पालथी मार, शरीर को सीधा रख, मुख के इर्द-गिर्द जागरूकता बनाये रख, नैसर्गिक तौर पर आने-जाने वाले श्वास को जानने का काम शुरू करता है। फिर सारी काया को अनुभव करते हुए, और तदुपरांत काया पर होने वाले उपद्रवों के शांत होने पर, श्वास लेना वा छोड़ना सीखता है। इस प्रकार काया के भीतरी अथवा बाहरी; अथवा भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार के भागों में कायानुपश्यना करता हुआ विहार करता है, काया में उदय अथवा व्यय; अथवा उदय के साथ-साथ व्यय होने वाले धर्मों का अनुपश्यी होकर विहार करता है। तब 'यह काया है!' – इस पर जागरूकता स्थिर हो जाती है। जितनी देर तक इस प्रकार का केवल ज्ञान, केवल दर्शन बना रहता है उतनी देर तक अनासक्त होकर विहार करता है। तब संसार में कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं रहता। इस प्रकार काया में कायानुपश्यी होकर विहार करना होता है।

फिर केवल बैठे-बैठे ही नहीं, चलते-फिरते, खड़े रहते, लेटे-लेटे अथवा शरीर की अन्य अवस्थाओं में भी, इन अवस्थाओं को यथाभूत जानते हुए, कायानुपश्यना की जाती है। और फिर इससे भी आगे बढ़ कर हर प्रकार की शारीरिक क्रिया में संप्रज्ञान बनाये रख कर कायानुपश्यना करनी होती

है। शरीर के भीतर अशुचि याने प्रतिकूल विषयों को आलंबन बना कर उक्त प्रकार से कायानुपश्यना करनी होती है।

'वेदनानुपश्यना' करते समय जैसी भी वेदना अनुभव हो – सुखद, दुःखद, अदुःखद-असुखद, सामिष, निरामिष – उसे प्रज्ञापूर्वक यथाभूत जानना होता है और पूर्ववत भीतर, बाहर, सर्वत्र उदय-व्यय की अनुभूति के साथ विहार करना होता है जिससे जागरूकता स्थिर होकर केवल इसी बात का ज्ञान, अथवा दर्शन, प्राप्त हो – 'यह वेदना है!'

'चित्तानुपश्यना' करते समय जैसी भी चित्त की स्थिति हो – रागयुक्त, रागविहीन; द्वेषयुक्त, द्वेषविहीन; मोहयुक्त, मोहविहीन; इत्यादि – उसे प्रज्ञापूर्वक यथाभूत जानना होता है और पूर्ववत भीतर, बाहर, सर्वत्र उदय-व्यय की अनुभूति के साथ विहार करना होता है जिससे जागरूकता स्थिर होकर केवल इसी बात का ज्ञान, अथवा दर्शन, प्राप्त हो – 'यह चित्त है!'

'धर्मानुपश्यना' करते समय भी चित्त में जागने वाले धर्मों की जैसी-जैसी स्थिति हो उन्हें प्रज्ञापूर्वक यथाभूत जानना होता है और पूर्ववत भीतर, बाहर, सर्वत्र उदय-व्यय की अनुभूति के साथ विहार करना होता है जिससे जागरूकता स्थिर होकर केवल इसी बात का ज्ञान, अथवा दर्शन, प्राप्त हो – 'ये धर्म हैं!'

नीवरणों की धर्मानुपश्यना करते समय प्रज्ञापूर्वक यह जानना होता है कि इस समय नीवरण है, अथवा नहीं है, अथवा उत्पन्न हो रहा है, अथवा इसका प्रहाण हो रहा है अथवा प्रहाण हुए-हुए का अब पुनः उद्भव नहीं होता है। [नीवरण हैं: १. कामच्छंद = कामुकता, २. व्यापाद = द्रोह, ३. स्त्यानमृद्ध = तन-मन का आलस, ४. औद्धत्य-कौकृत्य = उद्वेग-खेद, ५. विचिकित्सा = संदेह।]

उपादान-स्कंधों की धर्मानुपश्यना करते समय प्रज्ञापूर्वक यह जानना होता है कि इस समय स्कंध उदय हो रहा है अथवा अस्त हो रहा है। [उपादान-स्कंध हैं: १. रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार, ५. विज्ञान।]

आयतनों की धर्मानुपश्यना करते समय प्रज्ञापूर्वक यह जानना होता है कि यह भीतर का आयतन है, यह बाहर का आयतन है; यह दोनों के संसर्ग से होने वाला संयोजन है, यह अविद्यमान संयोजन की उत्पत्ति है, यह उत्पन्न-हुए संयोजन का प्रहाण है और यह प्रहाण हुए-हुए संयोजन का अब अनुद्भव है। [आयतन हैं: १. बाह्य-चक्षु, २. श्रोत्र, ३. घ्राण = नासिका, ४. जिह्वा, ५. काय = त्वक। ६. आभ्यंतर – मन तथा उनके विषय।]

बोध्यंगों की धर्मानुपश्यना करते समय प्रज्ञापूर्वक यह जानना होता है कि इस समय बोध्यंग है, अथवा नहीं है, अथवा उत्पन्न हो रहा है, अथवा भावित होकर परिपूर्ण हो रहा है। [बोध्यंग हैं: १. स्मृति, २. धर्मविचय, ३. वीर्य, ४. प्रीति, ५. प्रश्रब्धि, ६. समाधि, ७. उपेक्षा।]

आर्य-सत्यों की धर्मानुपश्यना करते समय प्रज्ञापूर्वक, यथाभूत, यह जानना होता है कि यह दुःख है, यह दुःख का समुदय है, यह दुःख का निरोध है, यह दुःख-निरोध का उपाय है।

तत्पश्चात भगवान ने स्पष्ट किया कि दुःख, दुःख का समुदय, दुःख का निरोध और दुःख-निरोध का उपाय – इनसे क्या अभिप्राय है। संक्षेप में पांचों उपादान-स्कंध ही 'दुःख' है; बार-बार राग जगाने वाली तृष्णा 'दुःख का समुदय' है; इस तृष्णा का सर्वथा निरोध 'दुःख का निरोध' है; और आर्य अष्टांगिक मार्ग [सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्मांत, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति, सम्यक समाधि] 'दुःख-निरोध का उपाय' है।

अंत में भगवान ने प्रज्ञप्त किया कि जो कोई मेरे बतलाये अनुसार इन चार स्मृति-प्रस्थानों की सात वर्ष भावना करे उसे इन दो फलों में से एक की आशा रखनी चाहिए – इसी जन्म में अरहत्व का साक्षात्कार अथवा उपाधि शेष होने पर अनागामिभाव। भगवान ने आगे प्रज्ञप्त किया कि इससे कहीं कम अवधि में भी इस फल की आशा की जा सकती है।

---

[२] सुत्त की समीक्षा

'महासतिपट्ठान सुत्त' भगवान बुद्ध द्वारा अपने जीवनकाल में दिये गये ८२,००० उपदेशों में से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपदेश है। जिन ग्रंथों में इसका विवरण मिलता है, वे हैं – दीघनिकाय तथा मज्झिमनिकाय। पहले ग्रंथ में इसका शीर्षक है 'महासतिपट्ठान सुत्त' और दूसरे में 'सतिपट्ठान सुत्त'। 'महासतिपट्ठान सुत्त' में 'सतिपट्ठान सुत्त' की अपेक्षा थोड़ा-सा अधिक स्पष्टीकरण मिलता है। संभवतः इसी कारणवश इसमें 'महा' शब्द जोड़ा गया है।

'सतिपट्ठान सुत्त' में पहला पद है 'सतिपट्ठान', जो दो शब्दों के योग से बना है – 'सति' तथा 'पट्ठान'। 'सति' का अर्थ है स्मृति (जागरूकता) और 'पट्ठान' का अर्थ है 'प्रतिष्ठापन'। इस प्रकार 'सतिपट्ठान' से आशय है 'स्मृति (जागरूकता) का प्रतिष्ठापन', अर्थात अपने बारे में स्मृति को चरम सीमा तक प्रतिष्ठापित कर लेने का काम। 'महासतिपट्ठान सुत्त' का सक्रिय अभ्यास करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मृति को इस सीमा तक प्रतिष्ठापित कर लेने से अपने बारे में सारी सच्चाइयां सामने आ जाती हैं और प्रकृति के सारे रहस्य खुल जाते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भगवान का यह उपदेश है।

'सतिपट्ठान सुत्त' का दूसरा शब्द है 'सुत्त' (सूत्र), अर्थात भगवान की वाणी। यह वाणी 'सु-आख्यात' (अच्छी तरह समझायी हुई) होती है। इसमें कोई भी विषय लोगों को खूब अच्छी तरह समझाया हुआ होता है, भले ही इसमें किसी बात को बार-बार दोहराना क्यों न पड़े। ऐसा होना नितांत आवश्यक है, क्योंकि यदि लोग धर्म की बात ठीक से समझ ही नहीं पायेंगे, तो धर्म को धारण कैसे करेंगे ?

अन्य परंपराओं में ऐसे सूत्र भी मिलते हैं जिनमें दो-चार-पांच पद ही होते हैं। वहां सूत्रकार जानबूझ कर पदों को सीमित करने की चेष्टा करते हैं, भले ही इससे उनके सूत्र का आशय किसी सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति की समझ में न आये। किसी अरहंत के सूत्र ऐसे नहीं होते। वे गंभीर से गंभीर विषय के हर पहलू को स्पष्ट करने के लिए होते हैं। वे

पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं होते। इसीलिए 'महासतिपट्ठान सुत्त' में भगवान द्वारा निर्दिष्ट चित्त-विशुद्धि की समूची प्रक्रिया को कोई भी सामान्य बुद्धि वाला साधक बड़ी सुगमता से समझ सकता है, और किसी कुशल आचार्य के साथ इसके प्रायोगिक पक्ष का सक्रिय अभ्यास कर इसी जीवन में अध्यात्म की ऊंची से ऊंची अवस्था प्राप्त कर सकता है।

अब हम 'महासतिपट्ठान सुत्त' की समीक्षा इसके विभिन्न शीर्षकों के क्रमानुसार करेंगे।

→

१. उद्देश

भगवान की वाणी के अधिकांश सुत्त इन शब्दों से आरंभ होते हैं – 'एवं मे सुतं' (ऐसा मेरे द्वारा सुना गया)। प्रकरण-प्राप्त सुत्त भी इन्हीं शब्दों से आरंभ होता है। इन तीन शब्दों में भारत का एक पुरातन इतिहास समाया हुआ है जिसे आज वह भूल गया है। अतः इसकी विशद चर्चा किया जाना नितांत आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त सुत्त के आरंभ में यह भी बतलाया गया है कि भगवान द्वारा इसका उपदेश कुरू-प्रदेश के कम्मासधम्म नामक निगम में दिया गया था। वहां उन्होंने भिक्षुओं को स्पष्ट किया कि मेरे द्वारा उपदिष्ट ये जो चार स्मृति-प्रस्थान हैं, यह प्राणियों की विशुद्धि (विमुक्ति) के लिए एक अकेला मार्ग है। ('एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया')। किसी सामान्य व्यक्ति को यह संकीर्णता की बात लग सकती है कि मुक्त अवस्था तक पहुँचने के लिए कोई एक अकेला मार्ग हो। मुक्त अवस्था प्राप्त करने के अनेक मार्ग क्यों नहीं हो सकते, जबकि सभी संप्रदाय अलग-अलग प्रकार से मुक्ति का मार्ग प्रख्यापित करते हैं? इस परिप्रेक्ष्य में बुद्ध के कथन का क्या रहस्य है? इस गुत्थी का खुलासा होना भी आवश्यक है।

भगवान ने जो चार स्मृति-प्रस्थान बतलाये हैं, वे हैं– (१) काया में कायानुपश्यी हो विहार करना, (२) वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहार करना, (३) चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहार करना, और (४) धर्मों में धर्मानुपश्यी हो विहार करना। परंतु इन चारों में से प्रत्येक के साथ ये अनिवार्यताएं दर्शायी हैं– अनुपश्यना करने वाला लोक में राग और द्वेष को दूर रखे ('विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं') और खूब तपने वाला ('आतापी'), संप्रज्ञानी ('सम्पजानो') तथा स्मृतिमान ('सतिमा') हो। इस अनुच्छेद के विभिन्न पदों का आशय स्पष्ट होना भी आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त इन दो विषयों की चर्चा किया जाना भी प्रासंगिक होगा –

(१) इस सुत्त में शील-पालन का कोई उल्लेख क्यों नहीं है, जबकि किसी भी सम्यकसंबुद्ध की शिक्षा का यह प्रथम सोपान होता है ? और
(२) यह कैसे विश्वास हो कि यह सुत्त सचमुच भगवान की वाणी है ?

उपरोक्त विंदुओं का विवेचन निम्न प्रकार से है–

(१) 'एवं मे सुतं'

आज से लगभग २,५०० वर्ष पूर्व जब सम्यकसंबुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया, तब एक विशेष घटना घटी।

उस समय का एक बूढ़ा भिक्षु भगवान के शरीर त्यागने पर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने कपड़े उछाल-उछाल कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने लगा। उसको भगवान से यह शिकायत थी कि वह गृहस्थों को तो मात्र पांच शील पालन करने के लिए कहते थे और गृहत्यागियों को दो सौ शील। उसका सोचना था कि गृहत्यागी इस जंजाल में बँधने के लिए थोड़े ही गृहत्याग करते हैं। अब बुद्ध के चले जाने से मुक्त हो गये हम उससे, और हमारे मन में जो आयेगा वही किया करेंगे हम!

यह देख कर उस समय के समझदार लोगों का माथा ठनका। उन्हें लगा कि ऐसे लोग धर्म के नाम पर आज ही नहीं, भविष्य में भी धर्म को दूषित करेंगे। इससे लोक-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। अतः क्यों न हम लोग– जिन्होंने भगवान की वाणी को सुना, समझा, पारायण किया, पालन किया और जीवन में उतारा है और मुक्त अवस्था प्राप्त की है– भगवान के सभी उपदेशों को संकलित कर लें, जिससे इनमें किसी के हाथों किसी प्रकार का संमिश्रण न हो सके।

भगवान पैंतीस वर्ष की अवस्था में सम्यकसंबुद्ध हुए थे और उन्होंने अस्सी वर्ष की पकी हुई अवस्था में शरीर छोड़ा था। इस बीच पैंतालीस वर्षों में उन्होंने ८२,००० उपदेश दिये थे। उनके उस समय के पहुँचे हुए श्रावक अरहंतों ने भी २,००० उपदेश दिये थे, जो अत्यंत सारगर्भित थे। तो उन समझदार लोगों ने इन ८४,००० उपदेशों का संग्रह कर इनका तीन पिटकों में संपादन किया जो 'तिपिटक' कहलाया।

'तिपिटक' का वह भाग जिसमें भिक्षुओं वा भिक्षुणियों के विनय (नियमों) का संग्रह है, वह 'विनयपिटक' कहलाया; जिस भाग में सामान्य लोगों को दिये गये सामान्य उपदेशों का संग्रह है, वह 'सुत्तपिटक' कहलाया;

और जिस भाग में शरीर और चित्त के परस्पर संयोग और एक-दूसरे को प्रभावित करने अथवा एक-दूसरे से प्रभावित होने का वैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है, वह 'अभिधम्मपिटक' कहलाया।

यह कार्य हाथ में लेने से पूर्व पूर्व-वर्णित समझदार लोगों ने अरहंत अवस्था प्राप्त पांच सौ भिक्षुओं की एक सूची तैयार करने का उपक्रम किया जिससे ये सभी मिलकर सारी भगवद्वाणी का संगायन करें। उनके मत में भगवान के समकालीन इतने अरहंत भिक्षुओं द्वारा संगायन की गयी वाणी भगवान की प्रामाणिक वाणी स्वीकार की जा सकेगी और इसमें किसी संमिश्रण की संभावना नहीं रहेगी।

चार सौ निन्यानवे अरहंतों की सूची तैयार हो जाने पर यह सुझाव प्राप्त हुआ कि पांचसौवां व्यक्ति तो भगवान का चचेरा भाई आनंद होना चाहिए जो भगवान के जीवनकाल के पिछले पच्चीस वर्षों में उनके निजी सहायक के रूप में छाया के समान उनके साथ रहा। निजी सहायक बनने से पूर्व ही आनंद ने भगवान से यह शर्त मनवा ली थी कि वे जहां कहीं जायेंगे, उसे साथ लेकर जायेंगे, क्योंकि उसे उनका हर उपदेश सुनना है। यदि कभी किसी कारणवश वे उसे अपने साथ न ले जा पाएं, तो वापस लौट कर अपना धर्मोपदेश उसे सुनायेंगे। आनंद की मेधा-शक्ति इतनी प्रखर थी कि एक बार सुनी हुई बात भी उसके मानस-पटल पर ऐसे अंकित हो जाती थी मानो कोई आवाज टेपरेकार्डर में टेप कर दी गयी हो, और चाहे जब सुन लो उसे। अथवा, कोई बात कंप्यूटर में फीड-इन (feed-in) कर दी गयी हो, और चाहे जब देख लो उसे। पिछले पच्चीस वर्षों में उसने भगवान के मुख से निःसृत एक-एक शब्द को अपने भीतर रिकार्ड कर रखा था, और इससे पहले के भी बहुत से वचन सुन रखे थे, क्योंकि वह बचपन से ही उनके साथ रहा था। अतः ऐसे व्यक्ति का भगवद्वाणी के संगायन के समय साथ रहना एक अपरिहार्य आवश्यकता थी।

पांच सौ अरहंतों की सभा के अध्यक्ष होने जा रहे थे महाकाश्यप। उनका मत था कि प्रस्तावित सभा अरहंतों की है। आनंद अभी तक स्रोतापन्न ही है। अतः जब तक वह अरहंत अवस्था प्राप्त न कर ले तब तक उसे उस सभा का सभासद नहीं बनाया जा सकता।

इसे दृष्टिगत करते हुए सभाध्यक्ष ने भिक्षु आनंद को अरहंत बन कर अरहंतों की सभा में भाग लेने के लिए आह्वान किया। उन्होंने कहा कि भगवान की सेवा-शुश्रूषा में लगे रहने के कारण वह समय नहीं निकाल पाते थे और स्रोतापन्न ही रह गये। अब भगवान के न रहने से समय की

कोई कमी नहीं रही है। और जीवन्मुक्त होने की विद्या उनके लिए दुरूह नहीं है, क्योंकि न जाने कितने लोग इनसे यह विद्या सीख-सीख कर अरहंत अवस्था प्राप्त कर चुके हैं। अतः वह अब प्रयत्नशील हों और अरहंत बन कर सभा में भाग लेने के लिए आयें।

इससे यह स्पष्ट होगा कि कोई बुद्ध भी किसी व्यक्ति को मुक्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा संभव होता, तो वे आनंद को तो अरहंत बना ही देते, जैसा कि वह उनका चचेरा भाई था, जीवन-भर उनके साथ रहा और लंबे समय तक उनकी सेवा में व्यापृत रहा। वस्तुतः हर व्यक्ति को अपने ही प्रयासों से मुक्त अवस्था प्राप्त करनी होती है।

अस्तु, आनंद ने भिक्षु महाकाश्यप को आश्वस्त किया कि मैं शीघ्र ही अरहंत होकर आपकी सभा में भाग लेने के लिए आऊंगा। सभा का आयोजन थोड़े समय के लिए स्थगित रखें। इसके तुरंत पश्चात वह अपने काम में लग गया।

भिक्षु आनंद को मुक्त होने की विद्या तो खूब विदित ही थी। अतः वह खूब परिश्रम करने लगा, परंतु वह अपना होश खोये हुए था, क्योंकि हर समय उसके मानस में यही चिंतन चलता था – 'अरहंत होकर रहूंगा!', 'अरहंत होकर रहूंगा!' दूसरों को होश बनाये रखने की शिक्षा देने वाला स्वयं होश खोये बैठा था। इसके परिणामस्वरूप दिन-पर-दिन बीतते चले गये परंतु उसे कोई उपलब्धि नहीं हुई।

जब अगले दिन चार माह पूरे होने को आये, तब भिक्षु महाकाश्यप ने उसे सूचित किया कि अब हम और नहीं रुक सकते। आज रात का समय आपके पास है। यदि आप इसमें अरहंत हो जायँ तो प्रातः सभा में भाग लेने के लिए चले आयें, अन्यथा हम किसी अन्य अरहंत भिक्षु का चयन कर अपना कार्य आरंभ कर देंगे।

इस पर भिक्षु आनंद ने कहा – "अच्छा! आज रात और प्रयत्न करूगा।" फिर उस रात भी वैसे ही काम करता चला गया – "मैं अरहंत बनूंगा!", "मैं अरहंत बनूंगा!" रात पूरी हुई। पौ फटने का प्रकाश आने लगा। तब एक लंबी सांस के साथ उसके मुँह से ये शब्द निकले – "मैं अरहंत नहीं हूं। मैं स्रोतापन्न हूं। मैं स्रोतापन्न हूं।" रात-भर बैठ कर तपने के बाद जब वह शरीर को जरा आराम देने के लिए लेटा, तब सिर तकिये से लगने से पहले ही अरहंत हो गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि ऐसा चिंतन करते ही वह उस क्षण की सच्चाई में आ गया था।

अब भिक्षु आनंद अरहंतों की सभा में भाग लेने के लिए जाता है

और वहां संगायन के समय कहता है– 'एवं मे सुतं' (ऐसा मेरे द्वारा सुना गया)। वह उस समय स्पष्ट करता है कि भगवान ने कोई बात कब कही, किसको कही, किस परिप्रेक्ष्य में कही, किस परिस्थिति में कही, किस प्रकार कही, जिससे किसी भी प्रसंग की सारी पृष्ठभूमि लोगों के सामने आ जाय।

(२) 'एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया'

सम्यकसंबुद्ध का कहना है कि ये जो चार स्मृति-प्रस्थान हैं, यह प्राणियों की विशुद्धि (विमुक्ति) के लिए एक अकेला मार्ग है। उनका यह कथन इस माने में सही है कि उनके द्वारा प्रख्यापित मार्ग किसी दार्शनिक मान्यता पर आधारित मार्ग नहीं है जो आगे जाकर कहीं अवरुद्ध हो जाय। यह मार्ग प्रकृति के नियमों पर आधारित है जिसकी सत्यता अपनी अनुभूति से परखी जा सकती है। 'सतिपट्ठान' का अभ्यास करता हुआ कोई भी व्यक्ति अपने अनुभव से जानने लगता है कि मेरे मानसिक विकार शनैः शनैः दूर हो रहे हैं। ऐसा होने से उसे स्वयं आभास होने लगता है कि मैं शनैः शनैः मुक्ति की ओर अग्रसर हो रहा हूं और मेरा 'सतिपट्ठान' का अभ्यास निरंतर जारी रहने पर मैं देर-सवेर भव-बंधन से सर्वथा मुक्त हो पाऊंगा।

यदि कोई व्यक्ति आग पर हाथ रखे तो यह उसे जलायेगी ही, जिससे उसे कष्ट होगा। यह कोई सांप्रदायिक मान्यता नहीं है, प्रकृति का नियम है जो हर किसी पर लागू होता है। इसके विपरीत कोई अन्य व्यक्ति आग पर हाथ न रखे तो वह जलने से बचा रहेगा, अग्नि-दहन के कष्ट से बचा रहेगा, निरापद रहेगा। यह भी कोई सांप्रदायिक मान्यता नहीं है, प्रकृति का नियम है जो हर किसी पर लागू होता है। ऐसे ही यदि कोई व्यक्ति अपने मन में शरीर पर होने वाली वेदनाओं के प्रति राग, द्वेष अथवा मोह की प्रतिक्रिया करके विकार जगाता है, तो दुःखी हो ही जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो सुखी बना रहता है। इसमें भी सांप्रदायिकता की कोई पुट नहीं है, मात्र प्रकृति का नियम है जो हर किसी पर लागू होता है। इस नियम की सत्यता को हर व्यक्ति अपने ऊपर घटा कर परख सकता है। इस दृष्टांत के परिप्रेक्ष्य में भी चित्त को नितांत निर्मल बनाये रखने के लिए 'सतिपट्ठान' का अभ्यास 'एकायनो मग्गो' (एक अकेला मार्ग) है, क्योंकि

इसमें सांप्रदायिक मान्यताओं के आधार पर नहीं, बल्कि प्रकृति के नियमों के अनुसार सारा काम होता है।

यहां यह जान लेना भी आवश्यक है कि आखिर 'सतिपट्ठान' का अभ्यास क्या होता है जिसके कारण भगवान ने इसे विमुक्ति का एकमात्र मार्ग होना बतलाया है?

मानस के ऊपरी-ऊपरी स्तर से विकार दूर करना और अंतर्मन की गहराइयों में पैठ कर जड़ों से विकार निकाल बाहर करना – ये दो जुदा-जुदा बातें हैं। मानस के ऊपरी-ऊपरी स्तर से विकार दूर करने के अनेक मार्ग (उपाय) हो सकते हैं, जैसे मन को किसी और काम में लगा देना, भजन-कीर्तन, नामजप आदि में लगा देना, अपने इष्टदेव को स्मरण करने लगना, इत्यादि। ऐसा करने से यूं लगता है मानो विकार दूर हो गया, परंतु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। मानस के ऊपरी स्तर पर अच्छा लेप लग जाने के कारण विकार मानस के ऊपरी स्तर से हट कर अंतर्मन की गहराइयों में जाकर पैठ जाता है। इस प्रकार उस विकार से सही माने में छुटकारा नहीं होता, जैसे मौरफिया (morphia) की सुई लगा देने से किसी रोगी का रोग दूर नहीं हो जाता, रोग का दमनमात्र होता है।

'सतिपट्ठान' का अभ्यासी विकार के प्रकट होने पर उससे दूर भागने की चेष्टा नहीं करता, बल्कि उसके अभिमुख होकर उसकी जड़ों तक जा पहुँचता है और वहीं से उसे दूर भगाता है। इससे विकार का समूल उच्छेद हो जाता है और उससे सदा के लिए मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यह साधनाभ्यास विकार का दमन नहीं, शमन कराता है।

विकारों की जड़ें शरीर पर होने वाली वेदनाओं में निहित होती हैं और यहीं से इन जड़ों को समाप्त करना होता है। इन वेदनाओं को अंतर्मन अनुभव करता रहता है जो शरीर के अणु-अणु से जुड़ा होता है। अपने अंधे स्वभाव के कारण यह हर सुखद वेदना के प्रति राग की, और हर दुःखद वेदना के प्रति द्वेष की, प्रतिक्रिया करता है। प्रतिक्रिया करने का यह स्वभाव चौबीसों घंटे चलता रहता है। ऊपर-ऊपर से कोई हजार कहता रहे – "राग मत करो! द्वेष मत करो!" – पर वह भीतर-ही-भीतर वैसे ही राग भी करता है और द्वेष भी, क्योंकि अंतर्मन को भीतर-ही-भीतर प्रतिक्षण वेदना महसूस होती ही रहती है। दिन में जागते हुए भी, और रात में सोते हुए भी, उसे प्रतिक्षण वेदना महसूस होती रहती है। ऊपरी मन की वहां तक पहुँच नहीं हो पाती है। अंतर्मन द्वारा निरंतर राग, द्वेष और मोह की प्रतिक्रिया करते रहने के अंध स्वभाव को तोड़ने के लिए किसी भी व्यक्ति को वहां तक

पहुँचना अनिवार्य है। 'सतिपट्ठान' की साधना-विधि उसे वहां तक पहुँचाती है। किसी भी अन्य साधना-विधि द्वारा अंतर्मन की तलस्पर्शी गहराइयों में जाकर वेदनाओं के स्तर पर विकारों के उन्मूलन का कार्य नहीं कराया जाता है। इस माने में भगवान का यह कथन सार्थक है– "एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया।"

(३) चार प्रकार की 'अनुपश्यना' (अनुपस्सना)

'महासतिपट्ठान सुत्त' में चार प्रकार की अनुपश्यना करने का विधान है– काया में कायानुपश्यना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्मों में धर्मानुपश्यना।

'अनुपश्यना' में 'अनु' से तात्पर्य है– अनुकरण, अनुसरण। साढ़े तीन हाथ की काया में इस क्षण जो कुछ प्रकट हो उसे जानना; फिर अगले क्षण जो कुछ प्रकट हो उसे जान लेना; ऐसे ही आगे-से-आगे क्षण-प्रति-क्षण प्रकट होने वाली सच्चाइयों को जानते चले जाना। यह कहलाती है 'अनुपश्यना'। इसका लक्ष्य यही रहता है कि सच्चाई का दर्शन क्षण-प्रति-क्षण होता रहे, बीच में कोई अंतराल न आये, इस काम में निरंतरता बनी रहे।

प्रारंभ में नये साधक के लिए ध्यान के पूरे समय में निरंतरता बनाये रखना कठिन होता है, परंतु काम करते-करते वह इस लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है।

'अनुपश्यना' करने वाले साधक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सतत बना रहे– आतापी, सम्पजानो, सतिमा। साधक चाहे कायानुपश्यना करता हो, अथवा वेदनानुपश्यना, अथवा चित्तानुपश्यना, अथवा धर्मानुपश्यना, उसके लिए 'आतापी', 'सम्पजानो', 'सतिमा' बने रहना अनिवार्य है। इनमें से किसी एक में भी शिथिलता आने पर 'सतिपट्ठान' का कार्य ठीक से हो ही नहीं सकता। और यदि कार्य ही ठीक से नहीं होगा, तो 'सतिपट्ठान' से जिस विलक्षण फल की आशा की जाती है वह आशा पूरी नहीं हो सकती। इन तीन महत्त्वपूर्ण शब्दों का आशय निम्न प्रकार से लेना होता है :–

'आतापी'– खूब तपने वाला, अर्थात खूब परिश्रम करने वाला। यहां तपने से तात्पर्य है मानस में संचित मैल को जला कर नष्ट कर देना; पांच इंद्रियों के द्वारों पर, अथवा पांच इंद्रियों के कारण, मन में जो विकार जागते हैं उन्हें तपा कर नष्ट कर देना; भीतर-ही-भीतर जो कर्म-बीज बनते हैं उन्हें

भून देना जिससे उनमें से कोई अंकुर फूट ही न पाये। तपने से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि अपने चारों ओर पंचाग्नि जला कर बैठ गये और लगे शरीर को कष्ट देने। इस प्रकार के अनर्गल अर्थ तभी पनपते हैं जब लोक में विद्या का शुद्ध स्वरूप नष्ट हो जाता है।

अनुपश्यना करने वाले साधक को कुछ करना नहीं होता है, उसे तो केवल क्षण-प्रति-क्षण अपने भीतर स्वतः प्रकट होने वाली सच्चाइयों को साक्षीभाव से देखना मात्र होता है। यहां यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि जब साधक को कुछ करना ही नहीं है तो इसमें परिश्रम किस बात का ? वस्तुतः भीतर की सच्चाइयों को बिना कुछ किये, केवल साक्षीभाव से देखते रहने के लिए बड़ा कठोर परिश्रम करना पड़ता है। मानव का जन्म-जन्मांतर का स्वभाव कुछ-न-कुछ करते रहने का है। इस स्वभाव के अनुसार वह प्रायःकर राग अथवा द्वेष की प्रतिक्रिया ही करता रहता है। उसे कुछ सुखद लगता है तो वह उसका सुख भोगने लगता है, और कुछ दुःखद लगता है तो उसका दुःख भोगने लगता है। मानस अपना यह स्वभाव पलटना नहीं चाहता, और अनुपश्यना करने वाला प्रतिपल यह स्वभाव पलटने में लगा रहता है। इससे स्पष्ट होगा कि जन्म-जन्मांतर के इस स्वभाव को पलटने के लिए साधक को कितना कठोर तप करना पड़ता है। इस अर्थ में 'आतापी'।

'सम्पजानो' – शरीर और चित्त से संबंधित सच्चाइयों को सम्यक रूप से जानते रहना, अर्थात काया, वेदना, चित्त अथवा चैतसिक धर्मों के उदय-व्यय, उत्पाद-व्यय को प्रज्ञा (प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभूति) से जानते रहना। उत्पाद-व्यय की जानकारी शरीर पर होने वाली वेदनाओं के आधार पर होती है।

'सतिमा' – स्मृतिमान (जागरूक) होना। यदि 'सति' (स्मृति) का अर्थ 'याददाश्त' किया जाय, तो भी साधक इसे इस रूप में जाने कि मुझे क्षण-प्रति-क्षण क्या करना है, इसे याद रखे। उसे यही याद रखना है कि प्रतिपल शरीर और चित्त से संबंधित जो सच्चाई प्रकट होती है उसके प्रति सजग बना रहना है– वह इस बात को जरा-सा भी न भूले। यह स्पष्ट रूप से विदित रहना चाहिए कि 'सति' के साथ 'सम्पजञ्ञ' (संप्रज्ञान) जुड़ने पर ही वह 'सम्मासति' (सम्यक स्मृति) होती है और अंतिम सच्चाई तक ले जाने वाली होती है।

'अनुपश्यना' का आरंभ –

'अनुपश्यना' का काम सही ढंग से तभी आरंभ होता है जब 'लोक' से 'अभिज्झा' और 'दोमनस्स' को दूर कर लेते हैं ('विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं')।

'लोक' से अभिप्राय है साढ़े तीन हाथ की काया में चलने वाला प्रपंच। 'अभिज्झा' से अभिप्राय है 'लोलुपता, राग'। 'दोमनस्सं' से अभिप्राय है 'दौर्मनस्य, द्वेष'। प्रिय के प्रति राग और अप्रिय के प्रति द्वेष – यही होता है 'अभिज्झादोमनस्स'। 'लोक' से इसी को दूर करना होता है ('विनेय्य')। राग-द्वेष का समूल निराकरण वेदनाओं के स्तर पर प्रज्ञा जगाने से ही संभव होता है। यदि ऐसा न करके बाहर-बाहर के आलंबनों में राग और द्वेष से अपने आपको दूर कर लिया जाय, तो ऊपर-ऊपर से राग और द्वेष से छुटकारा हो सकता है, परंतु जड़ों से छुटकारा नहीं होता। अतः राग-द्वेष से दूर रहने का काम साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही करना होता है।

(४) सुत्त में 'शील'-संबंधी चर्चा क्यों नहीं?

किसी सम्यकसंबुद्ध द्वारा सिखलाये गये धर्म के तीन सोपान होते हैं – शील, समाधि और प्रज्ञा। इनमें से शील समाधि के लिए होता है, समाधि प्रज्ञा के लिए होती है और प्रज्ञा होती है विमुक्ति के लिए।

'महासतिपट्ठान सुत्त' में शील-संबंधी कोई चर्चा नहीं है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह उपदेश कुरू-प्रदेश में दिया गया था जहां के लोग शील-पालन के लिए भारत-भर में विख्यात थे। भले ही वे अतियों में जाकर शील का पालन करते थे, परंतु निर्विवाद रूप से शील-पालक तो थे ही।

भगवान ने बार-बार कुरु-प्रदेश की प्रशंसा की है। संभवतः इसी कारणवश उन्होंने अपने अनेक गंभीर उपदेश इसी प्रदेश में दिये। इसके पीछे यह अवधारणा हो सकती है कि यहां के लोग शीलवान हैं, अतः कही गयी बात को खूब गहराई से समझ कर उसका पालन कर पायेंगे, जिससे उनका कल्याण हो जायगा।

इस संबंध में यह भी ज्ञातव्य है कि एक समय भारत की यह अवस्था थी कि संपूर्ण देश में धर्म 'कुरुधर्म' कहलाता था। इससे यह आशय लिया जाता था कि कुरु-प्रदेश के लोग स्वभाव से ही ऐसा जीवन जीते हैं जिसमें शील-पालन को प्रमुख स्थान दिया जाता है। वैसे बुद्ध बनने से पहले अपने अनेक पूर्वजन्मों में बोधिसत्त्व रहते हुए भगवान ने भी अपनी पारमिताओं को बढ़ाने का काम इसी प्रदेश में किया था।

(५) बुद्धवाणी की प्रामाणिकता

पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि भगवान के महापरिनिर्वाण के चार माह होते ही पांच सौ अरहंतों की एक सभा हुई जिसके सभी सदस्य भगवान के समकालीन और उस समय की घटनाओं के साक्षी थे। इन लोगों में भिक्षु आनंद जैसा व्यक्ति भी था जो भगवान के निकटतम संपर्क में रहा और जिसे भगवान की वाणी कंठस्थ थी। उनके उपदेशों को उद्धृत करते समय वह कहता था– 'एवं मे सुतं' (ऐसा मेरे द्वारा सुना गया)। इन लोगों ने मिलकर ८४,००० उपदेशों का संगायन किया। यह 'प्रथम संगीति' कहलायी।

इसके सौ वर्ष बाद भारत में 'दूसरी संगीति' हुई, जिसमें उस काल के स्थविर भिक्षुओं ने बुद्धवाणी का दूसरी बार संगायन किया। इसके लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद भारत में ही 'तीसरी संगीति' संपन्न हुई, जो सम्राट अशोक के शासनकाल में हुई। इस संगीति के पश्चात सम्राट ने कई अरहंतों को श्रीलंका, बर्मा आदि देशों में भेजा जो अपने साथ भगवान की वाणी ही नहीं, साधनाविधि भी लेकर गये जिसका उन देशों में व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। इसके लगभग ४००-५०० वर्ष बाद 'चौथी संगीति' श्रीलंका देश में संपन्न हुई जबकि सारी बुद्धवाणी पहली बार सुचारुरूप से लेखनीबद्ध की गयी। आज से लगभग १००-१२५ वर्ष पूर्व 'पांचवीं संगीति' का आयोजन बर्मा देश की पुरानी राजधानी मांडले नगरी में हुआ जिसके साथ ही भगवान की सारी वाणी संगमरमर की बड़ी-बड़ी शिलाओं पर खुदवा दी गयी। आज से लगभग ३५-४० वर्ष पूर्व बर्मा देश में ही 'छठी संगीति' हुई जिसके आज भी बहुत लोग साक्षी हैं।

इस छठी संगीति में भिन्न-भिन्न देशों– लाओस, कंबोडिया, थाईलैंड, श्रीलंका– से सारी बुद्धवाणी एकत्र की गयी। बर्मा के पास भी अपनी संग्रहीत वाणी थी ही। इन सभी देशों के विद्वान भिक्षुओं का आपस में

समागम हुआ। उन्होंने इन सभी देशों की वाणी का परस्पर मिलान किया। इसके फलस्वरूप यह पाया गया कि भले ही हर देश की अपनी-अपनी लिपि और अपना-अपना उच्चारण है, पर भगवान की वाणी में कोई अंतर नहीं है। वह सर्वत्र एक-जैसी है। यदि पाठ में कहीं कोई भेद है भी, तो इतना साधारण-सा जिससे भगवान की वाणी का आशय नहीं बिगड़ता। इतने विशाल वाङ्मय में कहीं-कहीं लिपिकार की असावधानी के कारण ऐसी त्रुटि का होना अस्वाभाविक भी नहीं है।

यह आश्चर्यजनक ही माना जा सकता है कि उपरोक्त पांच देशों में भगवान की वाणी पिछले २,२०० वर्षों से आज तक अपने शुद्ध रूप में बनी हुई है। ऐसे लगता है मानो इन देशों में जो वाणी पहुँची, वह वहां-वहां की लिपि और उच्चारण के साथ वहां-वहां के 'कोल्ड स्टोरेज' (cold storage) में डाल दी गयी और आज जब इसे 'कोल्ड स्टोरेज' से निकालकर इसका एक-दूसरे से मिलान करते हैं, तो ज्यों-की-त्यों वही वाणी उभर कर सामने आती है।

इस अकाट्य तथ्य से यह विश्वास जमता है कि जिस बुद्धवाणी पर आज काम किया जाता है वह भगवान के मुख से निःसृत वाणी है, और सर्वथा प्रामाणिक है।

२. कायानुपश्यना

इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि कोई भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है ? इस बात को छः पर्वों में समझाया गया है। ये पर्व हैं– १. आनापान, २. ईर्यापथ, ३. संप्रज्ञान, ४. प्रतिकूलमनसिकार, ५. धातुमनसिकार, तथा ६. नवसिवथिक।

इन पर्वों का अध्ययन करने से आभास होता है कि कायानुपश्यना की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रारंभ की जा सकती है परंतु काम करते-करते एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि अनुपश्यना करने वालों को एक-जैसी अनुभूतियां होनी शुरू हो जाती हैं, भले ही उन्होंने काम कैसे ही आरंभ किया हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सभी अनुपश्यना करने वालों को मुक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ निश्चित स्टेशनों में से गुजरना पड़ता है। यदि मुमुक्षु के मार्ग में ये स्टेशन नहीं आते हैं, तो उसके लिए मुक्ति मृग-मरीचिका के समान एक छलावा बनी रहती है।

इस प्रकरण के विभिन्न पर्वों की समीक्षा करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि 'काया में कायानुपश्यी' होने से क्या तात्पर्य है, कायानुपश्यना की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रारंभ करने का क्या औचित्य है और मुक्ति के मार्ग में कौन-कौन से स्टेशनों में से गुजरना पड़ता है।

'महासतिपट्ठान सुत्त' की अपेक्षा है कि काया में कायानुपश्यना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्मों में धर्मानुपश्यना की जाये।

काया में कायानुपश्यना करने से यह आशय लेना होता है कि साधक ठोस लगने वाली इस स्थूल काया में सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम काया का अनुभव करे। वस्तुतः यह स्थूल लगने वाली काया ही विभाजित, विघटित, विभाजित, विघटित होते-होते सूक्ष्म काया के रूप में साधक के समक्ष प्रकट होने लगती है– रूप, आकृति से नहीं, बल्कि अनुभूति के स्तर पर।

काया में कायानुपश्यना करने का एक अन्य आशय यह भी लिया जा सकता है कि साधक को अपनी काया में ही उस काया की अनुभूति

करनी चाहिए, किसी कल्पना में पड़ कर नहीं। यदि किसी पढ़ी-पढ़ायी, सुनी-सुनायी बात को मान कर, किसी दार्शनिक मान्यता को माथे पर चढ़ा कर केवल उसका चिंतन-मनन किया जाय, अथवा उसकी कल्पना की जाय, तो अनुभव नदारद हो जाता है। और यदि अनुभव ही नदारद हो जाय, तो अनुपश्यना हो नहीं सकती। अतः अनुभव हो तो उस अनुभव का हो जिसकी अनुपश्यना हो रही हो। इस प्रकार काया में कायानुपश्यना तभी कहला सकती है जब काया में काया का ही अनुभव हो।

यहां यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि काया में कायानुपश्यना करने के लिए शरीर पर होने वाली वेदनाओं का सहारा लेना नितांत आवश्यक है। उदाहरणतया कोई साधक अपनी काया के किसी अंग को तभी जान पाता है जब उसमें कोई खटपट हो, कोई घटना घटे और उसके फलस्वरूप कोई अनुभव हो। जैसे सिर पर मन जाय और वहां कोई वेदना हो रही हो, जिसका उसे अनुभव हो, तो वह कहेगा – 'यह मेरा सिर है'। सिर में वेदना हुए बिना सिर के अस्तित्व का पता नहीं चल सकता, सिर की कल्पना ही हो सकती है। हम आगे चल कर देखेंगे कि चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना करने के लिए भी वेदनाओं का सहारा लेना आवश्यक होता है।

जहां तक कायानुपश्यना से संबंधित प्रक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रारंभ करने का प्रश्न है, इसका कारण अलग-अलग व्यक्तियों की अलग-अलग प्रकार की मनःस्थिति का होना है। सामान्य मनःस्थिति वाला व्यक्ति कायानुपश्यना का कार्य आनापानसति (आने-जाने वाले सांस के प्रति जागरूक बने रहने) के अभ्यास से आरंभ कर सकता है, जबकि काम-वासनाओं में डूबे हुए व्यक्ति को प्रतिकूलमनसिकार पर्व अथवा नवसिवथिक पर्व के अनुसार काम आरंभ करना लाभप्रद रहता है। कामुक व्यक्ति का मानस प्रायःकर कामवासना जगाने वाले आलंबनों की खोज में लगा रहता है, पुरुष हो तो नारी का देह और नारी हो तो पुरुष का देह। ऐसे लोग सांस जैसे स्थूल आलंबन पर भी काम नहीं कर सकते। अतः सर्वप्रथम कामवासना के अनुकूल उनके इस चिंतन को कामवासना के प्रतिकूल बनाना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए प्रतिकूलमनसिकार पर्व के अनुसार ऐसे व्यक्ति का ध्यान शरीर की गंदगियों की ओर दिलाया जाता है। यदि इससे भी काम न चले और साधक अहर्निश कामवासना में डूबा रहता हो, तो उसे नवसिवथिक पर्व के अनुसार कार्यारंभ करना ठीक रहता है। इसमें कामुक व्यक्ति श्मशान में जाकर कुछ समय बिताता है जहां गलते-सड़ते मृत शरीरों को देखता है। इससे उसमें अपने शरीर के प्रति भी निर्वेद जागने

लगता है, क्योंकि वह समझता है कि बाद में मेरे शरीर की भी यही दशा होने वाली है। इस चिंतन-मनन के फलस्वरूप उसका मानस काम-वासनाओं के सतत चिंतन से कुछ-कुछ हटने लगता है और वह अंततोगत्वा कायानुपश्यना करने के योग्य हो जाता है।

विमुक्ति के मार्ग में आने वाले सभी महत्त्वपूर्ण स्टेशनों का उल्लेख प्रथमतः आनापान पर्व के अंतर्गत आता है। अतः अब आनापान पर्व की समीक्षा करते हुए ही इन स्टेशनों के बारे में विशद चर्चा कर ली जायगी।

(१) आनापान पर्व –

समाधि के क्षेत्र का प्रारंभिक कदम है 'आनापान-सति' का सक्रिय अभ्यास। इसके अंतर्गत साधक को किसी एकांत स्थान में बैठ, पालथी मार, काया को सीधा रख, स्मृति को मुख के ऊपर प्रतिष्ठापित कर अपने नैसर्गिक सांस की यथाभूत जानकारी करनी होती है। 'नैसर्गिक सांस की यथाभूत जानकारी' से तात्पर्य है कि कुदरती तौर पर भीतर जाने वाले अथवा बाहर आने वाले सांस में किसी प्रकार का हस्ताक्षेप किये बिना उसे यथावत जानते चला जाना। दूसरे शब्दों में, सांस पर किसी तरह का नियंत्रण किये बिना – जैसा कि प्राणायाम के अभ्यास में किया जाता है – यह गहरा हो तो गहरा और ओछा हो तो ओछा, इसे यथावत जानते चले जाना। ऐसा करते-करते देर-सवेर साधक शनैः शनैः निम्न अवस्थाओं में से गुजरने लगता है –

– सारी काया का संवेदनशील हो जाना, अर्थात सब जगह वेदनाओं की अनुभूति होने लगना ('सब्बकायपटिसंवेदी');

– काया के संस्कार का प्रश्रब्ध (सर्वथा उपद्रवरहित, प्रशांत) हो जाना ('पस्सम्भयं कायसङ्खारं');

– भीतर की ओर अनुपश्यना करने लगना ('अज्झत्त वा काये कायानुपस्सी विहरति');

– बाहर की ओर अनुपश्यना करने लगना ('बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति');

– भीतर-बाहर (सर्वत्र) अनुपश्यना करने लगना ('अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति');

– समुदयधर्म की अनुपश्यना करने लगना ('समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति');

– व्ययधर्म की अनुपश्यना करने लगना ('वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति');

– समुदयव्ययधर्म की अनुपश्यना करने लगना ('समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति');

– स्मृति का इस कदर प्रतिष्ठापित हो जाना कि कायानुपश्यना करते समय काया के वास्तविक स्वरूप की जानकारी होने लगे कि 'यह काया है!' ('अत्थि कायो ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति')।

इनमें से अंतिम अवस्था निरालंब अवस्था है जिसमें साधक का मानस केवल ज्ञान, केवल दर्शन पर टिका रहता है और वह लोक (इंद्रिय-क्षेत्र) में कुछ भी ग्रहण नहीं करता है।

इन महत्त्वपूर्ण स्टेशनों के बारे में निम्नांकित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं –

– सबसे पहला महत्त्वपूर्ण स्टेशन है 'सारी काया का संवेदनशील हो जाना'। यह अवस्था प्राप्त करने से पूर्व सामान्यतया 'आनापानसति' का सक्रिय अभ्यास करना होता है। ऐसा करते-करते साधक सारी काया को जानने लगता है। उसकी सारी काया संवेदनशील हो उठती है। उसे यत्र-तत्र वेदनाएं महसूस होने लगती हैं। काम करते-करते वह इस अवस्था पर जा पहुँचता है जहां वह एक ही सांस में सिर के सिरे से लेकर पांवों की उंगलियों तक और पांवों की उंगलियों से लेकर सिर के सिरे तक सारे शरीर की वेदनाएं जान लेता है। यह अवस्था आते आते प्रारंभिक अवस्था की स्थूल वेदनाएं एवं मूर्च्छाएं विभाजित, विघटित हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप सारा शरीर केवल परमाणुओं का पुंजमात्र मालूम होने लगता है। शरीर में कहीं भी कोई सघनता नहीं रह जाती। केवल तरंगें ही तरंगें रह जाती हैं। यह अवस्था 'भंग' की अवस्था कहलाती है।

इस अवस्था तक पहुँचने के लिए साधक को यह सीखना पड़ता है ('सिक्खति') कि शरीर पर कैसी भी वेदना क्यों न प्रकट हो उसे बिना राग अथवा द्वेष किये, केवल 'अनित्य है' ऐसा अनुभव करता चला जाय।

– अगला महत्त्वपूर्ण स्टेशन है 'प्रश्रब्धि'। शुरू-शुरू में साधक को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बार-बार आसन बदलना पड़ता है। यहां भी उसे सीखना होता है कि अधिष्ठान-काल में तो बिना शरीर को हिलाये-डुलाये सहजभाव से बैठे। इसका अभ्यास होते-होते शरीर का सारा भारीपन दूर हो जाता है। वस्तुतः यह भारीपन शरीर का नहीं होता। यह भारीपन अधोगति की ओर ले जाने वाले विकारों की उदीरणा होने के कारण होता है। ये विकार जैसे-जैसे निकलते जाते हैं वैसे-वैसे शरीर में हल्कापन

आता जाता है। फिर शरीर में कोई हलन-चलन भी नहीं होती। साधक घंटों तक अधिष्ठान में बैठा रह सकता है। यह 'प्रश्रब्धि' की अवस्था कहलाती है।

इस अवस्था में 'कायसङ्खार'– आने जाने वाला सांस– इतना धीमा पड़ जाता है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसे केवल अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है।

– भीतर, अथवा बाहर, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) अनुपश्यना करना। जब साधक नया-नया काम करता है तब शरीर के ऊपर-ऊपर की वेदनाओं को जान कर रह जाता है, अथवा भीतर की वेदनाओं को जान कर रह जाता है। पर जब भंग की अवस्था प्राप्त हो जाती है तब बाहर-भीतर का कोई भेद नहीं रह जाता, और वह दोनों को एक-साथ जानने लगता है। वह सारे शरीर-पुंज को ऊपर से नीचे तक और नीचे से ऊपर तक एक-साथ अनुभव करने लगता है।

– समुदयधर्म, व्ययधर्म, अथवा समुदयव्ययधर्म की अनुपश्यना करना। साधना की प्रारंभिक अवस्था में साधक स्थूल वेदनाओं को अनुभव करता है। इन वेदनाओं का समुदय अलग मालूम पड़ता है और व्यय अलग। बीच में कमोबेश अंतराल रहता है। वेदनाओं को साक्षीभाव से देखते जाने का अभ्यास पुष्ट हो जाने पर ये स्थूल वेदनाएं जाती रहती हैं और इनके स्थान पर सूक्ष्म वेदनाएं प्रकट होने लगती हैं। इन वेदनाओं का समुदय होने के साथ ही साथ इनका व्यय भी हो जाता है, मानों ये दोनों क्रियाएं साथ-साथ हो रही हों। इन क्रियाओं के बीच कोई अंतराल नहीं होता। ऐसा होते-होते साधक भंग अवस्था पर पहुँच जाता है, जहां सारे के सारे शरीर में केवल उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय, शीघ्र गति से उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय की ही अनुभूति होती है– इसके अतिरिक्त कुछ नहीं भासता।

– स्मृति के अपनी चरम अवस्था में प्रतिष्ठापित हो जाने पर काया का असली स्वरूप साधक की अनुभूति पर उतरने लगता है। उस समय उसे लगता है कि यह ठोस लगने वाला शरीर बुदबुदों का पुंजमात्र है जो त्वरित गति से उत्पन्न होता और समाप्त होता रहता है। इस पर मेरा कोई आधिपत्य नहीं है। अपनी अनुभूति के बल पर उसे विश्वास होने लगता है कि जो अपने स्वभाव से क्षण-प्रति-क्षण बदलता चला जा रहा है वह 'मैं' नहीं हो सकता, 'मेरा' नहीं हो सकता, 'मेरी आत्मा' नहीं हो सकता, वह 'नित्य, शाश्वत, ध्रुव' नहीं हो सकता। साधक की स्मृति क्षण-प्रति-क्षण इसी सच्चाई में प्रतिष्ठापित होती चली जाती है कि यह काया केवल परमाणुओं, कलापों का पुंज है जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, उत्पन्न होता है, नष्ट होता है।

– भले ही साधक यह अनुभूति करने लगता है कि यह शरीर परमाणुओं का पुंज मात्र है जिसका उत्पाद व्यय होता रहता है और वह बुद्धि से समझता भी है कि यह 'मैं' नहीं, यह 'मेरा' नहीं, परंतु फिर भी साधना करते हुए काफी समय तक 'मैं' साथ चलता रहता है– 'मैं' जान रहा हूं, 'मैं' अनुभव कर रहा हूं, यह 'मेरा' जानना है। काम करते-करते यह भ्रम अपने आप टूटने लगता है और मन से 'मैं', 'मेरे' का भाव निकल जाता है। अंततोगत्वा रह जाता है– मात्र ज्ञान, मात्र सजगता। ज्ञानी कोई नहीं, ज्ञेय कुछ नहीं, मात्र ज्ञान। द्रष्टा कोई नहीं, दृश्य कोई नहीं, मात्र दर्शन। यह अवस्था आने लगी, तो मानो मुक्त अवस्था आने लगी। इस अवस्था में 'मैं' पूरी तरह से पिघल जाता है, 'मैं' का नामोनिशान नहीं रह जाता। अब वह किसी पर आश्रित नहीं रहता। वस्तुतः सारा भवचक्र इसलिए चलता है कि कोई व्यक्ति अपने भीतर किसी शाश्वत, ध्रुव, नित्य आत्मा की अवधारणा कर उसके आश्रित होकर अपना जीवन बिताता है। पर उक्त प्रकार की अनुभूति करने वाले साधक के लिए अपनी साढ़े तीन हाथ की काया में भी और इससे बाहर भी आसक्त होने के लिए कुछ रह नहीं जाता। न कोई पकड़ने वाला, न कुछ पकड़ने योग्य, केवल तरंगें ही तरंगें!

जब यह सच्चाई अनुभूति पर उतरने लगे, तब उस अवस्था को भी पार कर जिस अवस्था का साक्षात्कार होता है वही निर्वाणिक अवस्था होती है। वहां सभी इंद्रियां काम करना बंद कर देती हैं। निर्वाण का साक्षात्कार करने वाले हर व्यक्ति को इन अवस्थाओं (स्टेशनों) में से गुजरना ही होता है।

काम आरंभ करते समय कोई व्यक्ति पहले काया को महत्त्व दे सकता है, चित्त को महत्त्व दे सकता है, काया पर होने वाली वेदनाओं को महत्त्व दे सकता है अथवा चित्त पर उत्पन्न होने वाले धर्मों को महत्त्व दे सकता है, पर अच्छा यही रहता है कि वह स्थूल से काम आरंभ करे, याने काया से काम आरंभ करे। और जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, काया को अनुभव करने के लिए वेदना को साथ लेकर चलना ही पड़ता है, क्योंकि बंद आंखों से वेदनाओं के माध्यम से ही काया के विभिन्न अंगों का पता चल सकता है।

(२) ईर्यापथ पर्व --

पुरानी भाषा में 'इरियापथ' (ईर्यापथ) कहते थे शरीर की हरकतों को। प्रमुख रूप से ये हरकतें चार प्रकार की होती हैं– बैठना, खड़े होना, लेटना और चलना।

साधना के समय अधिकतर बैठ कर ही ध्यान करना होता है, जैसे कि आनापान पर्व में बतलाया गया– पालथी मार कर, शरीर को सीधा रख, इत्यादि। परंतु कोई व्यक्ति चौबीसों घंटों बैठे नहीं रह सकता। उसे किसी कारणवश खड़ा भी होना पड़ सकता है, चलना भी पड़ सकता है, लेटना भी पड़ सकता है, तो उस समय भी साधना छूट न जाय, इसके लिए है यह ईर्यापथ पर्व।

इस प्रकार साधक चलते समय बखूबी जानता है– 'मैं चलता हूं'। ऐसे ही ठहरे हुए बखूबी जानता है– 'मैं ठहरा हूं'; बैठे हुए बखूबी जानता है– 'मैं बैठा हूं'; लेटे हुए बखूबी जानता है– 'मैं लेटा हूं'। जैसे-जैसे उसकी काया अवस्थित होती है, वैसे-वैसे वह उसे बखूबी जानता चला जाता है। पर यह सब करते हुए भी उसे बने रहना होता है– 'आतापी, सम्पजानो, सतिमा' (उद्योगशील, संप्रज्ञानी और स्मृतिमान)।

जैसे आनापानसति से भी काम आरंभ करने पर तत्काल ही शरीर पर होने वाली वेदनाओं की जानकारी नहीं होने लगती है, इसमें प्रायः दो-तीन दिन का समय लग ही जाता है, ऐसे ही यदि कोई व्यक्ति आनापानसति से काम आरंभ न करके ईर्यापथ पर्व के अनुसार काम करना आरंभ करे, तो उसे भी शरीर की हलन-चलन की सतत जानकारी बनाये रखने पर तत्काल ही वेदनाएं अनुभव नहीं होने लगतीं, बल्कि कालांतर में शनैः शनैः महसूस होती हैं।

शरीर पर होने वाली वेदनाओं की जानकारी होने का तात्पर्य है संप्रज्ञान के साथ जुड़ जाना। संप्रज्ञान सही मायने में तभी संप्रज्ञान होता है जब व्यक्ति को इन वेदनाओं के उत्पाद-व्यय की साफ-साफ जानकारी होने लगे। धीरे-धीरे शरीर की सभी अवस्थाओं में सारे शरीर की वेदनाएं और उनका उत्पाद-व्यय स्वानुभूति पर उतरने लगता है।

इसके उपरांत साधक अपना सक्रिय अभ्यास जारी रख उन सभी अवस्थाओं में से गुजरता है जिनका उल्लेख पिछले पर्व में किया गया है। वस्तुतः इस सुत्त के इस प्रकार के जितने भी अनुच्छेद हैं वे अपने आप में संपूर्ण साधना हैं। कहीं से भी काम शुरू किया जाय और कैसे भी शुरू

किया जाय, आगे जाकर सभी निर्धारित स्टेशनों में से गुजरना ही पड़ता है, और तभी निर्वाण के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचा जाता है।

(३) संप्रज्ञान पर्व–

बहुत ही महत्त्वपूर्ण है यह पर्व। किन्हीं विशेष कारणों से इसका एक अलग अनुच्छेद देना पड़ा है, अन्यथा साधक को तो हर अवस्था में रहना होता है– आतापी, सम्पजानो, सतिमा। साधक चाहे सांस से काम शुरू करे, चाहे ईर्यापथ से, चाहे आगे के किसी अनुच्छेद से, उसे रहना ही है– आतापी, सम्पजानो, सतिमा। वह चाहे कायानुपश्यना का काम करता हो, या वेदनानुपश्यना का, या चित्तानुपश्यना का, या धर्मानुपश्यना का, उसे फिर भी रहना होगा– आतापी, सम्पजानो, सतिमा। अगर साधक सतत उद्योगशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी न हो तो और भले ही कुछ होता हो, 'सतिपट्ठान' का काम नहीं होता, और जब 'सतिपट्ठान' का काम ही नहीं होता तो उसके सक्रिय अभ्यास से प्राप्त होने वाले अद्वितीय फलों की आशा नहीं रखी जा सकती।

'सति' (स्मृति) चित्त को एकाग्र करती है, जो समाधि का क्षेत्र है। 'सम्पजञ्ञ' (संप्रज्ञान) चित्त को निर्मल करता है, जो प्रज्ञा का क्षेत्र है। यदि कोई स्मृति के काम में खूब माहिर हो जाय और संप्रज्ञान का काम न करे तो वह मुक्ति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। चलते हुए चलना, ठहरे हुए ठहरना, बैठे हुए बैठना अथवा लेटे हुए लेटना बखूबी जान लेने मात्र से प्रज्ञा नहीं जाग जाती। प्रज्ञा तब जागती है जब उक्त जानकारी के साथ-साथ अनुभूति के स्तर पर अनित्य का भी बोध होने लगे, और इसके आधार पर दुःख का बोध होने लगे, अनात्म का बोध होने लगे और यह शरीर, यह चित्त और इनकी मिली-जुली जीवनधारा 'मैं' नहीं, 'मेरी' नहीं, 'मेरी आत्मा' नहीं– यह बोध होने लगे। शरीर और चित्त के तीनों लक्षण– अनित्य, दुःख और अनात्म– बार-बार अनुभूति पर उतरने से ही इनके प्रति 'मैं', 'मेरे' के भाव वाली आसक्ति टूटती है। हजार कल्पनाएं करते रहने और दार्शनिक मान्यताएं मानते रहने पर भी यह जन्म-जन्मांतर की आसक्ति नहीं टूटती और भवचक्र अनवरत चलता रहता है। अतः स्मृति के साथ हर समय संप्रज्ञान का जुड़ा रहना एक अपरिहार्य आवश्यकता है।

भगवान से जब कभी कोई व्यक्ति 'सति' के बारे में पूछता तो वे

संप्रज्ञान की बात साथ करते, और जब कोई उनसे 'सम्पजञ्ञ' के बारे में पूछता तो वे स्मृति की बात साथ करते। इस प्रकार उनकी दृष्टि में स्मृति को संप्रज्ञान से और संप्रज्ञान को स्मृति से अलग नहीं किया जा सकता था। यदि स्मृति को संप्रज्ञान से अलग रखा जाये तो यह लोकीय कामों में उपलब्धियां करा सकती है परंतु मुक्ति के काम नहीं आ सकती। जैसे सर्कस में काम करने वाली लड़की जिस रस्सी पर चलती है उसके प्रति खूब सजग रहने का अभ्यास होने पर भी निर्वाण का साक्षात्कार नहीं कर सकती। ऐसे ही अपने हावभाव के प्रति खूब सजग रहने वाली नर्तकी भी निर्वाण का साक्षात्कार नहीं कर सकती।

भगवान ने एक अन्य प्रसंग में कहा था – 'सतो, भिक्खवे, भिक्खु विहरेय्य सम्पजानो, अयं वो अम्हाकं अनुसासनी।' (हे भिक्षुओ! भिक्षु स्मृतिमान और संप्रज्ञानी होकर विहार करे, तुम्हारे लिए यह हमारी शिक्षा है)। इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करने के लिए भगवान की इतनी ही शिक्षा है कि कोई व्यक्ति स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बना रहे। उन्होंने किसी और प्रसंग में यह भी व्यक्त किया कि साधक रात-दिन अतंद्रिल (तंद्रारहित, उद्योगशील) बना रहे ('रत्तिन्दिवमतन्दितो') और कभी भी संप्रज्ञान से रिक्त (विरहित) न हो ('सम्पजञ्ञं न रिञ्चति')। उनका यह भी उपदेश है कि संप्रज्ञान का कार्य (शरीर के स्तर पर होने वाली वेदनाओं के उदय-व्यय का ज्ञान) सहज भाव से किया जाय और मुक्ति जब आये तब आये। दूसरे शब्दों में, समय को पकने दिया जाय, उसकी प्रतीक्षा की जाय ('कालं आगमेय्य')। यदि साधक में यह उतावलापन आ जाय कि मुझे कैसे जल्दी से जल्दी भंग अवस्था प्राप्त हो जाय, कैसे जल्दी से जल्दी मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाय, मैं कैसे सारे विकारों से विमुक्त हो जाऊं, मैं कैसे निर्वाण का दर्शन कर लूं, तो भटक जायगा, अपने लक्ष्य से दूर हो जायगा।

विचाराधीन पर्व में यह समझाया गया है कि शरीर और वाणी का कोई काम ऐसा नहीं होना चाहिए जो संप्रज्ञान के बिना हो। उदाहरणतया, आगे बढ़ते, पीछे हटते, सामने देखते, आड़े-तिरछे देखते, सिकुड़ते, पसारते, वस्त्र पहनते, खाते, पीते, चखते, मलमूत्र त्यागते, चलते, खड़े रहते, बैठे, सोते, जागते, बोलते, चुप रहते संप्रज्ञान बना ही रहना चाहिए। संप्रज्ञान सचमुच बना रहता है या नहीं, इसके दो मापदंड होते हैं : (१) क्या साधक को अपने शरीर पर वेदनाओं का उत्पाद-व्यय महसूस हो रहा है या नहीं; और (२) इस कार्य में निरंतरता आ रही है या नहीं। कहने का तात्पर्य

यह है कि साधक सदा आत्ममुखी रह वेदनाओं के उदय-व्यय को जानता रहे।

यहां यह भ्रांति हो सकती है कि सोते समय वेदनाओं की जानकारी होना कैसे संभव हो सकता है ? जो लोग 'सतिपट्ठान' का प्रतिपादन करते हैं उन्हें इस विषय में कोई भ्रांति नहीं रहती। वे जानते हैं कि यह सारा मार्ग उस अवस्था तक ले जाता है जहां रात को लेटने पर आधी-सी नींद रहती है और आधी-सी जाग। शरीर को तो आराम मिलता रहता है और मन इसी काम में लगा रहता है – भीतर उत्पाद है, व्यय है; उत्पाद है, व्यय है। साधक की सारी रात ऐसे ही निकल जाती है और वह सुबह तरोताजा हो कर उठता है।

यही नहीं, यदि रात को लेटे-लेटे कोई स्वप्न भी आ जाय तो उसकी भी जानकारी रहने लगती है और उस समय शरीर पर होने वाली वेदना की भी। उदाहरणतया, स्वप्न में गुस्सा आये तो गुस्से की भी जानकारी रहने लगती है और उसके साथ-साथ शरीर पर चलने वाली वेदना की भी। शनैः शनैः मन इतना सजग हो उठता है कि सोते-जागते मन में कोई भी विकार जागने पर संप्रज्ञान जगा रहता है।

वस्तुतः संप्रज्ञान ही वह विद्या थी जिसने बुद्ध को 'बुद्ध' बनाया। कोई व्यक्ति बोधि कैसे प्राप्त करता है ? बुद्धि के स्तर पर अध्यात्म की बात समझ कर कोई व्यक्ति बुद्ध नहीं बन जाता। किसी सुनी-सुनायी, पढ़ी-पढ़ायी बात की वजह से अथवा मात्र चिंतन-मनन से कोई बुद्ध नहीं बन जाता। इनसे मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा मिल सकती है, पर कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो जाता। यदि कोई व्यक्ति चिंतन-मनन के आधार पर इस तथ्य को स्वीकार करने लगे कि यह सारा शरीर अनित्य है, यह परमाणुओं का बना हुआ है, इसमें उत्पाद होता है व्यय होता है, प्रतिक्षण उत्पाद होता है व्यय होता है, इससे बात बनती नहीं। पर यदि यही तथ्य अनुभूति पर उतरने लगे, अर्थात यह वेदन होने लगे कि देखो उत्पाद हो रहा है, व्यय हो रहा है, उत्पाद हो रहा है, व्यय हो रहा है, तो यह संप्रज्ञान की बात हुई। संप्रज्ञान प्रतिष्ठित हुआ कि बोधि प्राप्त हुई, कोई व्यक्ति बुद्ध बना। यह संप्रज्ञान नहीं आया, तो ज्ञानी बन गया, लोगों को खूब समझाना भी आ गया, पर अपना विकार निकाल नहीं पाया क्योंकि विकार निकालने का काम जाना ही नहीं। आया हुआ संप्रज्ञान छूट गया, तो बौद्धिक स्तर पर ज्ञानी बन कर रह गया। फिर संप्रज्ञान जागा, तो मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होने लगा। इस प्रकार केवल बुद्धि से जानी गयी बात में और अनुभूति पर

उतरी हुई बात में जमीन-आसमान का अंतर होता है। इसलिए यह जो वेदनाओं के उदय-व्यय को देखने की बात है, यह केवल मानसिक बात होकर न रह जाय, इसका खूब ठोस अनुभव हो – इस बात का ध्यान रहना चाहिए। भले ही वेदनाएं होती हैं मन की भी, शरीर की भी पर भगवान चाहते थे कि काम शरीर की वेदनाओं पर ही किया जाय, क्योंकि मन तो साथ में जुड़ा ही रहता है।

शरीर पर वेदनाएं जागती हैं, नष्ट हो जाती हैं, जागती हैं, नष्ट हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएं जागती हैं, नष्ट हो जाती हैं। इन तथ्यों को भगवान ने कई प्रकार के उदाहरण देकर समझाया, जैसे –

● कोई धर्मशाला हो और उसमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण – सभी दिशाओं से यात्री आयें और कुछ देर पड़ाव डाल कर चले जायें। ऐसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आयें और कुछ देर पड़ाव डाल कर चले जायें। और ऐसा ही करें काले, गोरे, भूरे, पीले लोग; अथवा सुंदर, असुंदर, लंबे, नाटे लोग। इनमें से कोई भी धर्मशाला में स्थायी रूप से टिकने के लिए नहीं आता। ऐसे ही शरीर पर भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएं आती रहती हैं – सुखद, दु:खद, अदु:खद-असुखद; अथवा सूक्ष्म, स्थूल – और फिर चली जाती हैं। ये शरीर पर सदा बने रहने के लिए नहीं आतीं।

● आकाश में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण – भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर हवाएं बहने लगती हैं और फिर चली जाती हैं। ऐसे ही भिन्न-भिन्न प्रकार की हवाएं आती हैं – तेज, मंद; धूलभरी, स्वच्छ; गर्म, शीतल। ये भी आ आकर चली जाती हैं। ये आकाश में सदा बने रहने के लिए नहीं आतीं। ऐसे ही शरीर पर होने वाली तरह-तरह की वेदनाएं भी आती हैं चले जाने के लिए; शरीर पर स्थायी रूप से टिके रहने के लिए नहीं।

भगवान ने आगे समझाया कि इन वेदनाओं का करना क्या होता है? साधक खूब तप करता हुआ रंचमात्र भी संप्रज्ञान को न छोड़े ('यतो च भिक्खु आतापी सम्पजञ्ञं न रिञ्चति')। वह चौबीसों घंटे संप्रज्ञान के साथ जुड़ा रहे, अर्थात शरीर पर प्रकट होने वाली वेदनाओं के उदय-व्यय को जानता रहे (इनके अनित्य स्वभाव को जानता रहे)। जब ऐसा होने लगता है तब वह साधक 'वेदगू' हो जाता है, अर्थात वेदनाओं के समूचे क्षेत्र का जानकार हो जाता है। वह 'पंडित' हो जाता है, अर्थात सचमुच का ज्ञानी हो जाता है (पोथी बांचने वाला नहीं)। उसके भीतर ज्ञान जाग जाने से वह सारी सच्चाइयों को जान लेता है और स्रोतापन्न, सकृदागामी तथा अनागामी की अवस्थाओं में से क्रमशः गुजरता हुआ अंततः अरहंत हो जाता है। इस

अवस्था में किसी भी आस्रव का नामोनिशान तक नहीं रह जाता और वह व्यक्ति 'अनास्रव' कहलाने लगता है। उसके सारे पुराने आस्रव धुल जाने से वह कोई नया आस्रव नहीं बना सकता, नया मैल नहीं पैदा कर सकता। ऐसी अवस्था उसके मानस की हो जाती है। ऐसा व्यक्ति जब शरीर छोड़ता है, तब उदय-व्यय वाले इस लोक में उसका पुनर्जन्म नहीं होता ('नत्थिदानि पुनब्भवो')।

बहुत बार सांप्रदायिक बुद्धि वाले लोग इस बात को लेकर आक्षेप किया करते हैं कि यह साधना-विधि अनित्यता का ध्यान करना सिखलाती है जबकि ध्यान उसका करना चाहिए जो नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है।

इस संदर्भ में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस साधना-विधि का लक्ष्य निर्वाण का साक्षात्कार करना ही है जो नित्य, ध्रुव और शाश्वत है। परंतु इसका ध्यान इसलिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह इंद्रियातीत अवस्था है। जब तक इंद्रियक्षेत्र के प्रति आसक्ति बनी रहती है, चित्त से मैल दूर नहीं हो जाते, तब तक इस इंद्रियातीत अवस्था का साक्षात्कार नहीं हो सकता, केवल इसकी कल्पना ही की जा सकती है जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः प्रमुख कार्य है इंद्रियक्षेत्र के प्रति आसक्ति को तोड़ना और चित्त से सारे मैल दूर करना। 'सतिपट्ठान' का सारा कार्य इसी दिशा में होता है।

इस साधना-विधि के अनुसार शरीर पर प्रकट होने वाली वेदनाओं के प्रति-पल उदय-व्यय के स्वभाव को अनुभूति के स्तर पर जानना होता है। ये वेदनाएं शरीर और चित्त के संस्पर्श से उत्पन्न होती हैं। इनको यथाभूत जानते रहने से शरीर और चित्त का अनित्य स्वभाव स्पष्ट झलकने लगता है और इनके प्रति गहरा तादात्म्यभाव शनैः शनैः टूटने लगता है। इस तादात्म्य के टूटने से चित्त में संचित विकारों की उदीरणा होकर उनकी निर्जरा होने लगती है। अंततः ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि चित्त नितांत विकारविहीन हो जाने से स्वतः ही निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है। इस प्रकार इस साधना-विधि से इंद्रियक्षेत्र की सच्चाइयों का साक्षात्कार कर आगे बढ़ते हुए परम सत्य (निर्वाण) का साक्षात्कार किया जाता है।

यदि कोई व्यक्ति आरंभ से ही नित्य का ध्यान करने में लग जाये, तो वह सच्चाई से परे हट कर किसी कल्पना का ही ध्यान कर पायेगा, क्योंकि उसे अनुभूति अनित्यता की होगी और वह उस पर आरोपण नित्यता का करता रहेगा। ऐसा करने से वह धोखे में आ जायगा और आगे बढ़

नहीं पायेगा। अतः नित्य तक पहुँचने के लिए अनित्यता के सहारे ही आगे बढ़ना होता है, जो काम 'सतिपट्ठान' कराता है।

भगवान चाहते थे कि लोग आध्यात्मिक सच्चाइयों को केवल बुद्धि के स्तर पर मान कर न रह जायँ, बल्कि उन्हें अपनी अनुभूति के स्तर पर जान कर ही स्वीकार करें, क्योंकि कल्याण जानने से होता है, मानने मात्र से नहीं। वे लोगों को कहा करते थे– ''मानते ही हो न भाई ? बस, मानते ही हो न केवल ? अब (विपश्यना करके) इसे देखो वा जानो ('पस्स जान')।'' चूंकि 'जानना' भी कई प्रकार का होता है, अतः उन्होंने इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के शब्द काम में लिए–

'जानाति'– जानता है;

'पजानाति'– प्रज्ञापूर्वक जानता है;

'सम्पजानाति'– सम्यक रूप से (वेदनाओं के आधार पर उदय-व्यय को देखते हुए) जानता है;

'परिजानाति'– परिधि तक (और परिधि का अतिक्रमण कर उससे परे भी) जानता है।

'अभिजानाति'– सब कुछ जान जाता है (सर्वज्ञ हो जाता है)।

अस्तु, जैसे पिछले दो पर्वों के अनुसार कार्य करने से कोई व्यक्ति विमुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो किन्हीं निश्चित स्टेशनों में से गुजरता है, वैसे ही इस पर्व का काम करने से भी वही स्टेशन आते हैं– भीतर, बाहर, सर्वत्र काया में कायानुपश्यी होना; समुदय, व्यय और समुदयव्यय धर्मों में अनुपश्यी होकर काया में विहार करना; स्मृति का इस कदर प्रतिष्ठापित हो जाना कि कायानुपश्यना करते समय काया के वास्तविक स्वरूप की जानकारी होने लगे– 'यह काया है!' और इस प्रकार केवल ज्ञान, केवल दर्शन वाली निरालंब अवस्था को प्राप्त कर लेना।

यही अवस्था 'कैवल्य' अवस्था भी कहलाती है।

(४) प्रतिकूलमनसिकार पर्व –

'मनसिकार' का अर्थ होता है चिंतन-मनन, संकल्प-विकल्प। यह चिंतन-मनन सम्यक प्रकार का भी हो सकता है और गलत प्रकार का भी। सम्यक प्रकार का चिंतन-मनन कहलाता था 'योनिसो मनसिकार' और गलत प्रकार का 'अयोनिसो मनसिकार'। 'योनिसो मनसिकार' से मानस के

ऊपरी-ऊपरी स्तर की सफाई होती है पर अंतर्मन की गांठें नहीं खुलतीं। ये गांठें प्रज्ञा का कार्य करने से ही खुलती हैं। 'अयोनिसो मनसिकार' न केवल गलत रास्ते की ओर ले जाता है, बल्कि मन पर नया मैल चढ़ाने में भी सहायक बनता है।

इस पर्व का नाम है 'प्रतिकूल मनसिकार'। 'प्रतिकूल' किस मायने में ? कोई व्यक्ति कामवासना के विकारों में बहुत ज्यादा डूबा हुआ हो तो ध्यान करने के लिए बैठते ही उसके मन में कामवासना से संबंधित चिंतन शुरू हो जाता है। पुरुष हो तो नारी का और नारी हो तो पुरुष का। भगवान सर्वज्ञ होने के कारण साधक की मन:स्थिति भांप लेते थे और उसे ध्यान करने के लिए वैसा ही आलंबन देते थे जिससे उसके रास्ते की अड़चनें दूर होती चली जायँ। विचाराधीन पर्व इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है।

जब किसी व्यक्ति के मानस में कामवासना के अनुकूल ही अनुकूल चिंतन चल रहा हो, तो वह समाधि का काम नहीं कर सकता, प्रज्ञा के काम का तो प्रश्न ही कहां उठता है ? अत: कामवासना के अनुकूल चिंतन को कामवासना के प्रतिकूल करना अभीष्ट हो जाता है। इसके लिए भगवान ने मानव-शरीर की बत्तीस प्रकार की गंदगियां गिनायी हैं जिनका चिंतन-मनन करने से कामवासना के चिंतन में रोक लगती है और वह इससे प्रतिकूल दिशा में चलने लगता है।

शरीर की गंदगियां हैं– केश, लोम, नख, दांत, मांस, नसों का जाल, हड्डी, पीब, लहू, लार, पसीना, मल, मूत्र, इत्यादि। सिर से लेकर पांव तक यही कुछ है, और कुछ नहीं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सुंदर कहला सके। अत: इन गंदगियों के प्रत्यवेक्षण से साधक का वासनाओं के अनुकूल चिंतन वासनाओं के प्रतिकूल होने लगता है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि वासनाओं के अनुकूल चिंतन को वासनाओं के प्रतिकूल बनाने के लिए भी असत्य को आधार नहीं बनाया गया है, जैसा कि शरीर की गंदगियां एक प्रत्यक्ष सत्य है।

अस्तु, जब साधक हर गंदगी को अलग-अलग करके इस पर चिंतन करता है, तब आगे जाकर एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब चित्त एकाग्र होने लगता है। विपश्यना का काम उसके बाद ही शुरू होता है। यदि विपश्यना का काम रंचमात्र भी न किया जाय और चित्त की एकाग्रता को पुष्ट करने के काम में ही लगे रहा जाय, तो समाधियां प्राप्त होने लगती हैं जिन्हें उन दिनों की भाषा में 'झान' (ध्यान) कहा करते थे। ये ध्यान आठ प्रकार के होते थे– पहला ध्यान, दूसरा ध्यान, तीसरा ध्यान, चौथा

ध्यान, और फिर इसके आगे पांचवां, छठा, सातवां वा आठवां ध्यान। इन ध्यानों में संप्रज्ञान नहीं होता था, याने विपश्यना नहीं होती थी। यही कारण था कि इन आठों ध्यानों में पारंगत हो जाने पर भी कोई व्यक्ति अपने विकारों की जड़ें नहीं निकाल पाता था। ऐसा भी नहीं था कि इन ध्यानों से मन की सफाई बिल्कुल नहीं होती थी, काफी सफाई होती थी परंतु अंतर्मन की गहराइयों में दबे हुए अनुशय क्लेशों की उदीरणा नहीं होती थी। इन ध्यानों की वहां तक पहुँच नहीं थी और इसी कारण जन्म-जन्मांतर से साथ-साथ चलने वाले पत्थर की लकीर वाले गहरे-गहरे संस्कार, जो नये से नया भव देते रहते हैं, दबे रह जाते थे।

आठों ध्यानों में निष्णात व्यक्ति ऊंचे से ऊंचे लोक को भी प्राप्त कर सकता था जिसे 'भवाग्र' कहते थे। वहां वह कल्पों तक सुख-शांति का भोग कर सकता था, परंतु जैसे ही भोग की अवधि समाप्त होती, अनुशय क्लेशों में से कोई न कोई अपना सिर उठाता और उस व्यक्ति को फिर नीचे के किसी लोक में जन्म लेकर पूर्ववत भव-संसरण करना पड़ जाता।

भगवान ने संप्रज्ञान की खोज की, विपश्यना की खोज की। शरीर पर होने वाली वेदनाओं के आधार पर उदय-व्यय को देखने वाले काम की खोज की। जब कोई व्यक्ति वेदनाओं के आधार पर सच्चाई को देख कर उसके उदय-व्यय को देखने लगता है, तब वह वस्तुतः अंतर्मन की गहराइयों तक पहुँच जाता है। इस काम को करने वाले हर व्यक्ति को यह बात खूब स्पष्ट हो जाती है कि हमारा अंतर्मन (भीतर वाला, गहराइयों वाला मन) प्रति क्षण शरीर की वेदनाओं के साथ जुड़ा रहता है। सोते, जागते, चलते, फिरते, खाते, पीते– हर अवस्था में इनके साथ जुड़ा रहता है और इन वेदनाओं को अनुभव करता रहता है। और फिर अनुभव करके ऐसा स्वभाव बना लेता है कि जहां वेदना सुखद लगती है वहीं राग जगाता है, और जहां दुःखद लगती है वहीं द्वेष जगाता है। यह उसका दृढ़ स्वभाव हो जाता है।

भगवान ने मानस के इस दृढ़ स्वभाव को तोड़ने के लिए ही संप्रज्ञांन की खोज की। उन्होंने अपने समय में प्रचलित अनेक प्रकार की साधना-विधियों का प्रयोग किया, परंतु हर बार यही अनुभव हुआ कि अंतर्मन की गहराइयों में अनुशय-क्लेश, या यों कहें कि भव-बीज, तो बने ही रहते हैं। अतः वे अपने भीतर खोज करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि इन अनुशय क्लेशों को समाप्त करने का एक ही तरीका है, और वह है कि शरीर पर होने वाली वेदनाओं के सहारे अनित्य बोध जगाओ, क्योंकि इन वेदनाओं का गहराइयों वाले मन से बड़ा गहन संबंध है। उन्होंने स्वयं

प्रयोग करके देखा कि इस प्रकार से अनित्यबोध जगाने पर मन के भीतर संचित कर्म-संस्कारों की उदीरणा हो होकर निर्जरा होने लगती है। ये संस्कार उभरते हैं, नष्ट होते हैं, उभरते हैं, नष्ट होते हैं और जब सभी संस्कार उभर-उभर कर नष्ट हो जाते हैं तब भीतर कोई भव-बीज बचा हुआ न रह जाने से भव-संसरण से मुक्ति मिल जाती है। उन्होंने स्वयं इसी प्रकार से मुक्ति प्राप्त की और फिर इसी विद्या को मुक्त-हस्त से लोगों में बांटा।

प्रकरण-प्राप्त पर्व के अनुसार शरीर की गंदगियों को देखते चले जाने से इस बात की संभावना होने लगती है कि इन गंदगियों का बाह्य प्रक्षेपण होने लगे। किसी-किसी को बंद आंखों से नर-कंकाल दिख सकता है, नसों का जाल दिख सकता है, मांस के लोथड़े दिख सकते हैं। परंतु ऐसे व्यक्तियों को इनकी अवहेलना कर शरीर पर होने वाली वेदनाओं पर मन टिका कर उनके उदय-व्यय के स्वभाव को जानने के निर्देश दिये जाने चाहिएं। इन निर्देशों के अनुसार काम करने पर साधक मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होकर उन सभी स्टेशनों से गुजरने लगेगा जिनकी विशद चर्चा पहले की जा चुकी है।

(५) धातुमनसिकार पर्व –

यह पर्व भी पिछले पर्व के समान 'मनसिकार' (चिंतन-मनन) से ही संबंधित है। इस प्रकार यह भी एक प्रारंभिक कदम ही है। इसके अनुसार कोई व्यक्ति अपने भीतर कोई न कोई धातु ही देखता है। ये धातुएं चार प्रकार की हैं– पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु तथा वायुधातु।

शरीर में जो कुछ ठोसपना है, उसे 'पृथ्वीधातु' की संज्ञा दी जाती है– जैसे हड्डी। जो कुछ प्रवाहमान है, उसे जलधातु की– जैसे रक्त। भीतर की गर्मी-सर्दी कहलाती है 'अग्निधातु'। भोजन की पाचन क्रिया भी इसी के अंतर्गत आती है। और भीतर जो गैस वगैरह होती हैं, उसे कहते हैं 'वायुधातु'।

साधक इन धातुओं को इस प्रकार जानता हुआ बार-बार यही चिंतन करता है कि मेरे भीतर इन चार धातुओं को छोड़ कर और है ही क्या? पृथ्वी है, जल है, अग्नि है, वायु है– और क्या है? हड्डियां हैं, तरल पदार्थ हैं, पाचन क्रिया है, गैस है– और क्या है? मैं जिसे बड़ा सुंदर कहता हूं, वह क्या है इसमें?

इस प्रकार साधक का कामवासनाओं के अनुकूल चलता हुआ चिंतन इन धातुओं का आलंबन पाकर उनके प्रतिकूल चलने लगता है। यदि यह चिंतन चलता चला जाय, चलता चला जाय और बात वहीं समाप्त हो जाय, तो इस बात की संभावना रहती है कि साधक का चित्त खूब एकाग्र होकर वह प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, आदि की अवस्था प्राप्त कर ले, पर मुक्त अवस्था नहीं प्राप्त कर सकता। मुक्त अवस्था प्राप्त करने के लिए तो अनुभव होना चाहिए, इन धातुओं का भी अनुभव होना चाहिए।

'पृथ्वीधातु' का स्वभाव है भारीपन, हल्कापन। शरीर में इनका अनुभव हो, तो पृथ्वीधातु का अनुभव हुआ। जलधातु का स्वभाव है संयोजन– जोड़ना, बांधना। इनका अनुभव हो, तो 'जलधातु' का अनुभव हुआ। 'अग्निधातु' का स्वभाव है तापमान का पता चलना– गर्मी, सर्दी। इनका अनुभव हो, तो 'अग्निधातु' का अनुभव हुआ। ऐसे ही 'वायुधातु' का स्वभाव है हलन-चलन। इसका अनुभव हो, तो 'वायुधातु' का अनुभव हुआ।

जब अनुभव होने लगता है, तब शरीर पर होने वाली वेदनाएं महसूस होने लगती हैं, वेदनाओं के उदय-व्यय की जानकारी होने लगती है। बस, यही संप्रज्ञान होता है और इसके सहारे ही गाड़ी मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने लगती है। और इस मार्ग पर चलते-चलते वही स्टेशन आने लगते हैं जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

(६) नवसिवथिक (नौ प्रकार के श्मशानों का) पर्व–

यह पर्व ऐसे व्यक्तियों के लिए है जो कामवासनाओं में इस कदर डूबे रहते हैं कि हजार समझाने पर भी कि शरीर के भीतर गंदगी-ही-गंदगी है, किसी भी तरह की सुंदरता नहीं है, जब ध्यान करने के लिए बैठते हैं, तब उनका चहेता सुंदर रूप ही सामने आता है– पुरुष हो तो नारी का, और नारी हो तो पुरुष का। उनका मानस इसी सुंदर रूप में विचरण करता रहता है और उनके विचार भी इसी रंग से रंगे रहते हैं। वे इस अवस्था से अपने आप को उबार नहीं पाते हैं, मानों कीचड़ में धँसे हों।

इस पर्व के अनुसार ऐसे व्यक्तियों में शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्ति तुड़वाने के लिए उन्हें कई प्रकार के श्मशानों में भिजवाया जाता था। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे वहां पर बैठ कर मुर्दा लाशों को देखें। ये लाशें विकृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में देखी जा सकती थीं–

एक दिन पुरानी, दो दिन पुरानी, तीन दिन पुरानी, फूली हुई नीली पड़ी, पीब चूती, अथवा भांति-भांति के पशु-पक्षियों द्वारा खायी जाती हुई, अथवा हड्डियों का ढेर बनी हुई, अथवा चूर्ण-विचूर्ण हुई, इत्यादि।

मुर्दा लाशों की इस प्रकार की अवस्था देख कर साधक के मन में यह चिंतन चलना स्वाभाविक था कि जैसी अवस्था इनके शरीर की हुई है वैसी ही अवस्था मेरे शरीर की भी होने वाली है। अथवा जिस व्यक्ति के शरीर के प्रति इतनी आसक्ति है, उस व्यक्ति का शरीर भी ऐसा ही हो जाने वाला है। धीरे-धीरे इस प्रकार का चिंतन इसलिए आसान हो जाता था क्योंकि आंखों के सामने कोई मुर्दा पड़ा होता था और उसका भी इस कदर बिगड़ा हुआ स्वरूप कि उसके प्रति कोई आकर्षण हो नहीं सकता था।

उक्त प्रकार से नौ तरह के श्मशानों में शव-दर्शन का काम भी एक प्रारंभिक कदम हुआ करता था, जिसका उद्देश्य कामवासना में आकंठ डूबे हुए व्यक्तियों के मानस में कामवासना के प्रति निर्वेद जगाना था। ऐसा होने से कामवासना के अनुकूल चिंतन शनैः शनैः कामवासना के प्रतिकूल होने लगता था जिससे गाड़ी पटरी पर आ जाती थी और फिर संप्रज्ञान के साथ मुक्ति के पथ पर अग्रसर होने लगती थी। और फिर वही के वही स्टेशन!

इस प्रकार विभिन्न पर्वों के अंतर्गत छः प्रकार से कायानुपश्यना करने का विधान किया हुआ है। पहले पर्व के अनुसार आनापान के सहारे ध्यानों की ओर न जाकर संप्रज्ञान की ओर आगे बढ़ते हैं और प्रायः दो-तीन दिन में हर किसी को शरीर पर होने वाली वेदनाओं की अनुभूति होने ही लगती है। वेदनाओं की अनुभूति होने लगी कि संप्रज्ञान का काम शुरू हो जाता है और विपश्यना की ओर आगे बढ़ जाते हैं। यह कतई आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति हर पर्व के अनुसार काम करे। अलबत्ता तीसरा पर्व हर मुमुक्षु के लिए अनिवार्य है। इस पर्व के अनुसार हर किसी को संप्रज्ञान में से गुजरना ही होता है। आगे जाकर ऊंची अवस्थाओं तक वही पहुँच पाता है जो संप्रज्ञान की निरंतरता बनाये रखने में सफल होता है। इस कार्य में जो जितना सफल रहता है, वह उतना आगे बढ़ता चला जाता है। बाकी पर्वों से काम शुरू करने पर भी कायानुपश्यना हो जाती है और साधक मुक्त अवस्था तक पहुँच सकता है।

---

३. वेदनानुपश्यना

इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि कोई भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है।

इस संदर्भ में यह प्रज्ञप्त किया गया है कि भिक्षु सुखद वेदना को अनुभव करता हुआ बखूबी जाने कि मैं सुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं, दुःखद वेदना को अनुभव करता हुआ बखूबी जाने कि मैं दुःखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं, अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव करता हुआ बखूबी जाने कि मैं अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं।

ऐसे ही सामिष सुखद वेदना को अनुभव करता हुआ बखूबी जाने कि मैं सामिष सुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं, निरामिष सुखद वेदना को अनुभव करता हुआ बखूबी जाने कि मैं निरामिष सुखद वेदना को बखूबी अनुभव कर रहा हूं, इत्यादि।

वेदनानुपश्यना बहुत महत्त्वपूर्ण है, यतः(क्योंकि) वेदनाओं के आधार पर ही कायानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना संभव हो पाती है।

यहां अदुःखद-असुखद और सामिष/निरामिष वेदनाओं के बारे में वस्तुस्थिति ज्ञात होनी चाहिए। जहां तक अदुःखद-असुखद वेदना का संबंध है, इसका आशय उस अनुभूति से नहीं लेना होता है जिसे न तो दुःखद कह सकते हों, न सुखद – भले ही साधना की प्रारंभिक अवस्था में साधक ऐसी अनुभूति में से गुजरता है। इस अनुभूति के लिए यह शब्द नहीं आया। ध्यान की बहुत गहरी अवस्थाओं में एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है, उसके लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

साधना की प्रारंभिक अवस्था में शरीर पर जो कुछ दुःखद जागता है – पीड़ाएं, दबाव, दुखाव, गर्मी आदि – उसे साक्षीभाव से देखने से वह समाप्त हो जाता है। इसके उपरांत शरीर पर आनंद की लहरें उठनी आरंभ हो जाती हैं। पुरानी भाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि 'प्रीति-प्रमोद' जागने लगता है। सारे शरीर में एक प्रवाह चलने लगता है जो बहुत अच्छा लगता है – खूब पुलक-रोमांच, आनंद की उत्ताल तरंगें! आगे बढ़ते बढ़ते यह प्रवाह

इतना धीमा पड़ जाता है, इतना सूक्ष्म हो जाता है, कि केवल प्रश्रब्धि, प्रशांति मालूम होती है। न तो इस अवस्था में दु:ख की अनुभूति होती है, न सुख की, बल्कि प्रशांति-ही-प्रशांति अनुभव पर उतरती है। यही अदु:खद-असुखद वेदना कहलाती है।

तीनों प्रकार की वेदनाएं खतरनाक हैं। जब दु:खद वेदना चलती है, तब इस बात का खतरा रहता है कि मानस अपने पुराने स्वभाव के कारण उस दु:खद वेदना के प्रति द्वेष जगाने लगे। जब सुखद वेदना चलती है, तब खतरा इस बात का होता है कि मानस अपने पुराने स्वभाव के कारण उस सुखद वेदना के प्रति राग जगाने लगे। और जब विकार निकलते निकलते प्रश्रब्धि की अवस्था आती है – चाहे विपश्यना के द्वारा आये, अथवा ध्यानों के द्वारा आये – मोह के संस्कार बनने लगते हैं। साधक को यह भ्रम होने लगता है कि मैं अंतिम अवस्था पर पहुँच गया हूं। यही मुक्त अवस्था है। यह नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है। यह अवस्था इस मायने में बहुत ही खतरनाक है कि जब इस बीच की अवस्था को अंतिम अवस्था मान कर साधक अपना काम ही बंद कर देता है, तो मुक्त नहीं हो सकता। बीच की धर्मशाला में अटक कर रह जाता है। वस्तुत: ऐसे साधक को जांचते रहना चाहिए कि अभी मैं शरीर और चित्त के क्षेत्र में ही हूं, क्योंकि मेरी इंद्रियां अभी काम कर रही हैं। इंद्रियों के परे का क्षेत्र तो वह होता है जिसमें इंद्रियां काम करना बंद कर देती हैं।

जहां तक सामिष/निरामिष वेदनाओं का संबंध है, 'सामिष' से तात्पर्य है अशुद्ध और 'निरामिष' से तात्पर्य है शुद्ध। भगवान ने सुखद, दु:खद और अदु:खद-असुखद इन तीनों प्रकार की वेदनाओं को दो-दो भागों में बांटा है – सामिष तथा निरामिष।

वास्तव में कोई भी वेदना अपने आप में न तो शुद्ध होती है, न अशुद्ध। हम किसी वेदना को कैसे ग्रहण करते हैं उस पर निर्भर करता है इसका शुद्धाशुद्ध होना। कोई दु:खद वेदना आये और हम उसके प्रति द्वेष जगायें, तो मानो अपने लिए भवचक्र जगाया, हमने मन को मैला करने का काम शुरू कर दिया। यह हुआ सामिष ही सामिष। इसके विपरीत, यदि दु:खद वेदना आने पर हम उसके प्रति द्वेष न जगा कर अनित्यबोध जगायें, तो हमने नया मैल भी नहीं चढ़ाया और द्वेष जगाने की हमारी पुरानी आदत ने भी पलटा खाया। इस प्रकार वही दु:खद वेदना हमारे मन से मैल दूर करने में सहायक बन गयी। यह हुआ निरामिष ही निरामिष। ऐसे ही सुखद और अदु:खद-असुखद वेदनाओं के बारे में भी समझना चाहिए।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि किसी वेदना को सामिष अथवा निरामिष बनाना हमारे हाथ में है। साधक को चाहिए कि विपश्यना के बल पर वेदनाओं को निरामिष रखे। यदि कभी असावधानी के कारण कोई वेदना सामिष हो जाय, तो अपना होश जगा कर उस अवस्था से प्रतिक्रमण कर ले (पीछे हट जाय) और उसे निरामिष बना ले।

यों करते-करते मानस का स्वभाव पलटने लगता है और फिर साधक कायानुपश्यना के समान – इस बार काया की बजाय वेदनाओं की अनुपश्यना करने का काम करने लगेगा। साधक भीतर, बाहर, सर्वत्र वेदनानुपश्यी होकर विहार करने लगेगा। वेदनाओं के समुदय, व्यय और समुदय-व्यय (अर्थात, समुदय और व्यय को साथ-साथ) जानने लगेगा। इस प्रकार वह समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर भंग की अवस्था में से गुजरेगा और यह समझने लगेगा कि 'अरे, बस! यही वेदना है।' यह न 'मैं' हूं, न 'मेरी' है, न 'मेरी आत्मा' है। ये तो तरंगें ही तरंगें हैं, ऊर्मियां ही ऊर्मियां हैं। हर तरंग, हर ऊर्मि अपने आप में अलग है। ऐसे ही हर वेदना अपने आप में अलग है। जैसे कायानुपश्यना करने से यह स्पष्ट हुआ था कि काया का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है, ऐसे ही वेदनानुपश्यना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदना का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है।

जब स्मृति इस सच्चाई पर जाकर प्रतिष्ठापित हो जाती है कि बस, वेदना वेदना है, तो मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है। यह निरालंब अवस्था है जिसमें साधक लोक (इंद्रियक्षेत्र) में कुछ ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार कोई भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है।

---

४. चित्तानुपश्यना

इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि कोई भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है।

इस संदर्भ में भगवान ने प्रज्ञप्त किया है कि चित्त रागयुक्त होने पर साधक बखूबी जाने कि इस समय मेरा चित्त रागयुक्त है, और रागविहीन होने पर बखूबी जाने कि इस समय मेरा चित्त रागविहीन है। ऐसे ही जब-जब चित्त द्वेषयुक्त अथवा द्वेषविहीन हो, मोहयुक्त अथवा मोहविहीन हो, संक्षिप्त अथवा विक्षिप्त हो, महग्गत अथवा अ-महग्गत हो, स-उत्तर अथवा अनुत्तर हो, समाहित अथवा अ-समाहित हो, विमुक्त अथवा अ-विमुक्त हो।

यहां यह समझना आवश्यक है कि चित्त की अनुपश्यना चित्त की कल्पना करने से नहीं की जाती है, बल्कि चित्त में समय-समय पर जो कुछ जागता है उसे ध्यान में रख कर की जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी समय चित्त में राग जागे, तो साधक यह जाने कि इस समय मेरा चित्त राग वाला है। राग निकल जाय, तो यह जाने कि इस समय मेरा चित्त बिना राग वाला है। यह जानने का काम साक्षीभाव से करना होता है। चित्त में राग जागने पर चित्त से घृणा न करने लगे, राग को दूर करने की चेष्टा न करने लगे, अन्यथा विपश्यना नहीं होगी। इस समय राग वाला चित्त है, बस इतना-भर जाने। आगे का काम कुदरत करती है, विश्व का विधान करता है। जैसे ही साधक राग वाले चित्त को साक्षीभाव से देखता है, नया राग पैदा होता नहीं, राग के प्रति घृणा निपजती नहीं, और राग की परतें अपने आप उतरने लगती हैं।

ऐसे ही चित्त से राग निकल जाने पर साधक खुशियों से न नाचने लगे कि देखो, मेरे चित्त से इस समय राग निकला हुआ है, अन्यथा फिर विपश्यना नहीं होगी। साधक केवल इतना-भर जाने कि इस समय मेरा चित्त बिना राग वाला है। बाकी का सारा काम कुदरत करेगी, विश्व का विधान करेगा। जैसे ही साधक वीतराग चित्त को साक्षीभाव से देखेगा, कोई प्रतिक्रिया

होगी नहीं। और प्रतिक्रिया नहीं होगी, तो राग पुनः जागेगा नहीं। ऐसे ही द्वेष, मोह आदि के बारे में भी जानना चाहिए।

अब कुछ शब्दों के बारे में। यदि काम करते करते साधक का चित्त एकदम एकाग्र हो जाय तो 'संक्षिप्त', और चारों ओर बिखर जाय, इधर उधर दौड़ने लगे तो 'विक्षिप्त'। पांचवें, छठे, सातवें, आठवें ध्यान में कल्पनाओं के आधार पर दसों दिशाओं में मानस को फैलाने पर चित्त 'महग्गत', और ऐसा न होने पर, सिमटे रहने पर 'अ-महग्गत'। जिसे अभी आगे की अवस्थाएं प्राप्त करनी हैं ऐसा चित्त 'स-उत्तर', और जो ऐसी अवस्था पर पहुँच गया जिससे आगे जाने को कुछ नहीं है वह 'अनुत्तर'। समाधिस्थ है तो 'समाहित', और ऐसा नहीं है तो 'अ-समाहित'। विकार-विहीन है तो 'विमुक्त', और ऐसा नहीं है तो 'अ-विमुक्त'।

चित्तानुपश्यना करते हुए भी वही स्टेशन आते हैं जो कायानुपश्यना अथवा वेदनानुपश्यना करते हुए आते हैं। भीतर, बाहर, सर्वत्र चित्तानुपश्यी हो विहरना। चित्त के समुदय, व्यय और समुदय-व्यय (अर्थात, समुदय और व्यय को साथ-साथ) जानना। इस प्रकार समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर भंग की अवस्था में से गुजरना और यह समझने लगना कि 'अरे, बस! यही चित्त है।'

चित्तानुपश्यना करते हुए भी वेदना साथ जुड़ती है, तभी सही रूप से चित्तानुपश्यना हो पाती है। वस्तुतः 'सतिपट्ठान' के समूचे क्षेत्र में वेदनाओं को कहीं भी अलग नहीं रखा जा सकता। वेदनाओं को अलग रखने का अर्थ होता है संप्रज्ञान को अलग रखना। संप्रज्ञान को अलग रखने का अर्थ होता है सम्यक स्मृति का काम न करना, सम्यक स्मृति को प्रतिष्ठापित न करना। 'सतिपट्ठान' का आशय ही यह होता है कि सम्यक स्मृति के साथ संप्रज्ञान प्रतिक्षण जुड़ा रहे।

संप्रज्ञान जुड़े होने का अर्थ है वेदनाओं के उदय-व्यय की जानकारी का बने रहना। चित्त और चित्त के साथ जैसे ही कुछ जागता है (जिसे उस समय के चित्त का 'धर्म' कहते हैं), शरीर में कोई न कोई वेदना जाग उठती है। इसीलिए भगवान ने अन्यत्र प्रतिपादित किया है– 'सब्बे धम्मा वेदना समोसरणा' (सारे धर्म वेदना के साथ संसरण करते हैं)। इस प्रकार चित्त में जो धर्म जागता है वह वेदनाओं के साथ शरीर पर प्रवाहमान होने लगता है। दोनों परस्पर जुड़-से जाते हैं। ऐसा हो ही नहीं सकता कि चित्त में कुछ जागे और उसका शरीर पर प्रभाव न पड़े। यह असंभव बात है। मन में जो जागेगा, मन जो धर्म धारण करेगा, वह वेदनाओं के रूप में प्रकट होगा ही।

जैसे कायानुपश्यना करते हुए साधक उस अवस्था पर जा पहुँचता है जहां काया में सूक्ष्म काया को देख लेता है, उस पर किसी प्रकार का आरोपण नहीं करता; वेदनानुपश्यना करते हुए वेदनाओं में तरंगों, ऊर्मियों को देख लेता है, उन पर किसी प्रकार का आरोपण नहीं करता; वैसे ही चित्तानुपश्यना करते हुए भी मात्र विज्ञान को जान लेता है और उस पर किसी प्रकार का आरोपण नहीं करता।

चित्तानुपश्यना करते हुए भी उस निरालंब अवस्था पर पहुँच जाते हैं जहां मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है और लोक (इंद्रियक्षेत्र) में ग्रहण करने के लिए कुछ नहीं रहता है। उस समय संज्ञा काम करना बिल्कुल बंद कर देती है। तब कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है जिसमें केवल ज्ञान होता है, कोई सम्मिश्रण नहीं।

इस प्रकार कोई भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है।

५. धर्मानुपश्यना

इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि कोई भिक्षु धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है। इस बात को पांच पर्वों में समझाया गया है। ये पर्व हैं– १. नीवरण, २. स्कंध, ३. आयतन, ४. बोध्यंग, और ५. सत्य।

इन पर्वों की समीक्षा करने से पूर्व यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि धर्मानुपश्यना तब तक नहीं हो सकती जब तक चित्त किसी-न-किसी धर्म को धारण न कर ले। भारत की पुरानी भाषा में चित्त जो कुछ धारण करे उसे 'धर्म' कहते थे। चित्त बुराई भी धारण कर सकता है और अच्छाई भी। 'धर्म' का एक अर्थ यह भी होता था कि चित्त ने जो कुछ धारण किया उसका स्वभाव क्या है। मानो क्रोध धारण किया, तो क्रोध का स्वभाव क्या है। अस्तु, विचाराधीन प्रकरण में जिन धर्मों की अनुपश्यना का वर्णन किया गया है, वे हैं पांच नीवरण, पांच उपादानस्कंध, छः भीतरी वा बाहरी आयतन, सात बोध्यंग और चार आर्यसत्य।

(१) नीवरण पर्व –

'नीवरण' का अर्थ है आवरण, पर्दा। ऐसा आवरण जो मानस पर इतना छा जाय कि सच्चाई को देखने ही न दे। दूसरे शब्दों में, ऐसा विकार जो मानस को इतना प्रभावित कर दे कि प्रकट होने वाली सच्चाई का क्या स्वभाव है, उसे समझने ही न दे।

इस प्रकार के पांच मोटे-मोटे आवरण होते हैं– कामच्छंद, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा। सामान्य भाषा में इन्हें कहा जा सकता है– राग, द्वेष, आलस्य, उद्वेग-खेद और संदेह। ये ऐसे धर्म हैं जिन्हें मानस समय-समय पर धारण करता है। इन नीवरणों का साक्षीभाव से दर्शन करना ही धर्मानुपश्यना है।

भगवान समझाते हैं कि कोई भिक्षु इन पांच नीवरणों में कैसे धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

मानो कामच्छंद नीवरण है। ऊपर कामच्छंद का सामान्य अर्थ राग बतलाया है। वैसे इसका और भी स्थूल अर्थ होता है कामवासना। जब मन में कामवासना जागे, तब साधक इतना मात्र जाने कि इस समय मेरे भीतर कामवासना जागी हुई है। वह इससे घृणा करके इसे दूर करने की जरा-सी भी चेष्टा न करे, अन्यथा अनुपश्यना नहीं होगी।

कैसा भी विकार क्यों न हो, वह अनंतकाल तक नहीं बना रह सकता। वह देर-सवेर समाप्त हो ही जाता है। ऐसे ही जब मन में जागी हुई कामवासना चली जाय, तब साधक इतना मात्र जाने कि इस समय मेरे भीतर कामवासना नहीं है।

इस प्रकार साक्षीभाव बनाये रखने से मन में दबी हुई कामवासना के नये संस्कार सिर उठाते हैं। यह देख वह साधक इतना मात्र जाने कि इस समय अनुत्पन्न (दबी हुई) कामवासना जागी है।

इस तरह कामवासना के संस्कारों की उत्पत्ति, विनाश, उत्पत्ति, विनाश होते-होते एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब इन संस्कारों का सर्वथा प्रहाण हो जाता है। चित्तधारा में कामवासना का कोई संस्कार शेष नहीं रह जाता। यह अवस्था आने पर साधक इतना मात्र जाने कि मेरे भीतर उत्पन्न होने वाली कामवासना प्रहीण हो गयी है।

और जब कामवासना के सारे संस्कार प्रहीण हो जाने से भविष्य में इसकी उत्पत्ति की बिल्कुल संभावना न रहे, तब साधक इतना मात्र जाने कि प्रहीण हुई कामवासना की अब भविष्य में उत्पत्ति होने वाली नहीं है। भविष्य में उत्पत्ति न होने का कारण होता है विकार का जड़ों से उखड़ कर समाप्त हो जाना।

जब विकार जड़ों से निकल जाते हैं तब बड़ी प्रश्रब्धि आती है। प्रहाण की यह अवस्था 'पटिपस्सद्धि' कहलाती है। साधक की व्याकुलता का कारण भी यही विकार होते हैं। इनके निकल जाने से ही बड़ी प्रश्रब्धि आती है। यह निर्वाण के समीप की अवस्था होती है। प्रहाण की उच्चतर अवस्था है 'निःसरण'। इस अवस्था में साधक नाम और रूप के प्रपंच से सर्वथा बाहर निकल जाता है। यह जो प्रहाण होता है, वह हमेशा के लिए होता है। अब पहले जैसी अवस्था नहीं आ सकती।

अमुक-अमुक प्रकार के विकार जड़ों से निकल जाने से साधक प्रथम बार निर्वाण का साक्षात्कार करता है। इसके बाद वह फिर इंद्रिय जगत में आता है। अब उस व्यक्ति के लिए यह असंभव हो जाता है कि अधोगति की ओर ले जाने वाले विकार जड़ों से निकल चुके हों, वे पुनः जाग सकें।

यह प्रकृति का नियम है। जब किसी प्रकार के सारे पुराने संस्कार निकल जाते हैं, तब उसी प्रकार के नये संस्कार जाग नहीं सकते।

जहां तक अन्य नीवरणों का संबंध है, उनकी अनुपश्यना भी उक्त प्रकार से ही करनी होती है। अलबत्ता इन नीवरणों का आशय इस प्रकार समझ लेना चाहिए : 'व्यापाद' (द्रोह, अथवा किसी बात को लेकर जागा हुआ कोई बड़ा क्रोध, द्वेष); 'स्त्यानमृद्ध' (तन मन का आलस); 'औद्धत्य-कौकृत्य' (बेचैनी, खेद, पश्चात्ताप); 'विचिकित्सा' (संशय, संदेह)।

'सतिपट्ठान' के शिविर में से गुजरने वाले साधक अपने अनुभव से जानते हैं कि प्रारंभिक अवस्था में ये नीवरण कितना परेशान करते हैं। जब कामच्छंद जागता है, तब वासनाएं मन में खूब उथल-पुथल मचाती हैं और क्षण-प्रति-क्षण प्रकट होने वाली सच्चाई को देखने नहीं देतीं। व्यापाद जागता है, तो जिस किसी से मनमुटाव होता है वही बंद आंखों के सामने आने लगता है, और फिर उसकी बातें याद आने लगती हैं– उसने मुझे यह कह दिया, उसने मेरा यह कर दिया, इत्यादि इत्यादि। स्त्यानमृद्ध जागता है, तो खूब आलस आने लगता है, काम करने को जी ही नहीं चाहता। औद्धत्य-कौकृत्य जागता है, तो बेचैनी शुरू हो जाती है। रोना-सा आने लगता है, मुझसे यह काम नहीं होगा, मुझसे यह गलती हो गयी, और फिर पश्चात्ताप ही पश्चात्ताप! विचिकित्सा उनको जागती है जो अपनी पूर्व परंपराओं और मान्यताओं के मोटे-मोटे लेप लगाये हुए आते हैं। वे यह तो समझते हैं कि इस साधना से मन की विकृतियां दूर होती हैं– क्रोध, वासना, अहंकार आदि में कमी आती है– पर मन में यह प्रपंच भी चलता रहता है कि हमारी मान्यता का क्या हुआ, उसको तो इस साधना में कोई स्थान दिया ही नहीं गया है। आत्मा की कोई बात ही नहीं, न परमात्मा की। क्या हम नास्तिक तो नहीं बन रहे ? यहां पर हमारे अमुक-अमुक कर्मकांड करने नहीं देते, क्या इससे कोई बहुत बड़ा दोष तो नहीं हो रहा ? इस प्रकार के तरह-तरह के जंजाल मन में आने लगते हैं जो मन को विलोडित करते रहते हैं। पर 'सतिपट्ठान' का अभ्यास करते-करते ये सभी नीवरण दूर होने लगते हैं, मानो सूर्य के आगे से काले-काले बादल छँटने लगे हों।

अस्तु, साधक इन नीवरणों को आलंबन बना कर धर्मों में धर्म की अनुपश्यना करता है। वह अपने भीतर इन नीवरणों के स्वभाव को देखता है। मानो कामच्छंद जागा, तो उसका स्वभाव क्या है ? उसका स्वभाव है कामच्छंद का उदय होना, और फिर व्यय हो जाना। जब इस उदय-व्यय

की जानकारी वेदनाओं के स्तर पर होने लगती है, तब साधक संप्रज्ञान से जुड़ जाता है।

धर्मानुपश्यना करते हुए भी साधक भीतर, बाहर, सर्वत्र धर्मानुपश्यी हो विहरता है। धर्मों के समुदय, व्यय और समुदय-व्यय (अर्थात, समुदय और व्यय को साथ-साथ) जानता है। इस प्रकार समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर भंग की अवस्था में से गुजरता है और यह समझने लगता है – 'अरे, बस ! यही धर्म हैं।' धर्मानुपश्यना करते हुए भी साधक उस निरालंब अवस्था पर पहुँच जाता है जहां मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है और लोक (इंद्रियक्षेत्र) में ग्रहण करने के लिए कुछ नहीं रहता है। इस प्रकार धर्मानुपश्यना करते हुए भी वही स्टेशन आये।

इस विधि से कोई भिक्षु पांच नीवरण धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

(२) स्कंधपर्व –

इस पर्व में यह बतलाया गया है कि कोई भिक्षु पांच उपादान-स्कंध धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है।

पांच उपादान-स्कंध हैं : रूप, विज्ञान, संज्ञा, वेदना और संस्कार। इनमें 'रूप' है – भौतिक शरीर, भौतिक परमाणुओं का पुंज। विज्ञान, संज्ञा, वेदना और संस्कार – ये चार स्कंध हैं मानस के। उन दिनों की भाषा में मानस को कहते थे 'नाम'। 'नाम' और 'रूप' के ये पांचों स्कंध एकत्र हुए, तो इनका नाम पड़ा 'नाम-रूप पंच-स्कंध'। इनके प्रति खूब उपादान जागता है, आसक्ति जागती है क्योंकि कोई भी सामान्य व्यक्ति इन्हें 'मैं', 'मेरा', 'मेरी आत्मा' मानता चला जाता है।

भले ही कोई व्यक्ति बुद्धि के स्तर पर हजार कहता रहे कि यह भौतिक शरीर 'मैं' नहीं, 'मेरा' नहीं, 'मेरी आत्मा' नहीं; यह चित्त 'मैं' नहीं, 'मेरा' नहीं, 'मेरी आत्मा' नहीं; पर अपने भीतर झांकने पर स्पष्ट मालूम होने लगता है कि पंचस्कंध के प्रति बहुत गहरी आसक्ति है। ये पांच उत्पन्न हैं और कोई व्यक्ति इनके प्रति आसक्ति पैदा करता है, तो उस आसक्ति से और पांच स्कंध बनते हैं। पांच स्कंध बनते हैं, तो आसक्ति आती है तब और पांच स्कंध बनते हैं। यह पांच स्कंध समाप्त हुए, तो दूसरे पांच स्कंध खड़े हो जाते हैं। वे पांच स्कंध समाप्त होते हैं, तो कोई दूसरे ही खड़े

हो जाते हैं। अगर यह आसक्ति न टूटे, तो मृत्यु के समय जब ये पांच स्कंध छूटते हैं, तो फिर नये पांच स्कंध लेकर जीवनधारा आगे बहने लगती है। इस प्रकार जो 'दुष्चक्र' (vicious circle) चल पड़ता है, उसे साधक स्पष्ट देखता है। वह उसके बारे में अनुपश्यना करता है–

'यह रूप है, यह रूप का समुदय है, यह रूप का अस्त होना है';

'यह वेदना है, यह वेदना का समुदय है, यह वेदना का अस्त होना है';

'यह संज्ञा है, यह संज्ञा का समुदय है, यह संज्ञा का अस्त होना है';

'यह संस्कार हैं, यह संस्कारों का समुदय है, यह संस्कारों का अस्त होना है';

'यह विज्ञान है, यह विज्ञान का समुदय है, यह विज्ञान का अस्त होना है'।

अधिक स्पष्ट शब्दों में। साधक देखता है कि यह 'रूप' है। (रूप माने आकृति नहीं, परमाणुओं का पुंज। 'रुप्पतीति', अर्थात जो प्रतिक्षण उखड़ता है, नष्ट होता है)। वह देखता है कि रूप की उत्पत्ति हो रही है, और फिर यह कि देखते-देखते यह समाप्त हो रहा है। और इसी तरह बाकी चार। इनको भी साधक इसी प्रकार देखता है : यह इनकी उत्पत्ति है, यह इनका विनाश है। ऐसा होते-होते निरोध अवस्था प्राप्त हो जाती है ('अत्थङ्गमो', अस्तगमन, अस्त हो जाना)।

इस निरोध (निर्वाणिक) अवस्था को भी साधक देख जाता है। दूसरे शब्दों में, इन पांचों स्कंधों के, शरीर और चित्त के परे की अवस्था को देख जाता है।

इन पांच उपादान-स्कंधों की अनुपश्यना करते हुए भी साधक उन्हीं स्टेशनों में से गुजरता है और समझता है– 'अरे, बस! यही धर्म हैं।'

काम शुरू करते समय साधक इन पांच उपादान-स्कंधों का विभाजन मोटे-मोटे रूप में ही कर पाता है। बहुत ऊंची अवस्था में ही इन्हें टुकड़े-टुकड़े करके देखने में समर्थ होता है– विज्ञान अलग, संज्ञा अलग, वेदना अलग, संस्कार अलग। इनके टुकड़े-टुकड़े होने का काम अनागामी से अरहंत अवस्था के बीच शुरू होता है, और सही मायने में 'अनात्म' का आशय भी तभी समझ में आता है, वर्ना अनुपश्यना का काम भी होता रहता है और अपनापे का धोखा भी चलता रहता है। साधक विज्ञान को ही अपनी आत्मा मान कर चलता है– देखो, यह 'मैं' हूं; 'मैं' देख रहा हूं; 'मैं' सुन रहा हूं, 'मैं' सूंघ रहा हूं; 'मैं' चख रहा हूं, 'मैं' स्पर्श कर रहा हूं, 'मैं' चिंतन कर रहा हूं। यह 'मैं' ही हूं। यह विज्ञान कायम रहता है।

बहुत आगे की अवस्था में यह स्पष्ट रूप से मालूम होने लगता है कि 'विज्ञान' भी एक नहीं है; छः हैं अलग-अलग, जिनका एक दूसरे से

कोई संबंध नहीं है। चक्षुविज्ञान केवल चक्षुविज्ञान का काम करता है; श्रोत्रविज्ञान केवल श्रोत्रविज्ञान का; ऐसे ही घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान आदि भी। हर इंद्रिय का अपना ज्ञान होता है, अपना विज्ञान; और वही सिर उठा कर बताता हैं कि उस इंद्रियविशेष पर क्या घटना घटी है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं बतलाता है। और साधक यह भी देखता है कि इन अवस्थाओं में जाते-जाते चक्षुविज्ञान निरुद्ध हो जाता है, श्रोत्रविज्ञान निरुद्ध हो जाता है, और ऐसे ही अन्य विज्ञान भी। इस प्रकार देखना बंद हो जाता है, सुनना बंद हो जाता है, और ऐसे ही सूंघना, चखना आदि भी। यदि विज्ञान सदा कायम रहने वाला होता, तो भला ऐसी स्थिति क्यों पैदा होती ?

निर्वाण की डुबकी लगते ही सारी बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि सब कुछ 'अनात्म' है ('सब्बे धम्मा अनत्ताति')। जिस 'विज्ञान' को कोई 'मैं' मानता है, उसका भी कोई अस्तित्व नहीं है। नाम और रूप के क्षेत्र में जो संस्कार बनते हैं, जो कुछ भी बनता है, वह सब अनित्य है ('सब्बे सङ्खारा अनिच्चाति')। ये सभी संस्कार अनित्य होने के कारण दु:ख लाने वाले होते हैं। ('सब्बे सङ्खारा दुक्खाति')। यह अवस्था आते-आते आत्मभाव टूटने लगता है, अहंकार टूटने लगता है। जितना-जितना अहंभाव टूटता है, मुक्ति के मार्ग पर उतनी-उतनी प्रगति होती चली जाती है। इस समीक्षा के अनुसार ये पांच उपादान-स्कंध समझे जाने चाहिएं।

(३) आयतन पर्व –

इस पर्व में यह बतलाया गया है कि कोई भिक्षु छः भीतरी-बाहरी आयतन धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है।

'आयतन' से अभिप्राय है खिड़की, दरवाजा जिससे हम बाहर की सच्चाई का दर्शन कर सकें। ये खिड़कियां हमारी छः इंद्रियां हैं– आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन। ये छः क्षेत्र भी कहला सकते हैं, जैसा कि आंख के आयतन में आंख का क्षेत्र, याने आंख से संबंधित काम यहीं होगा। ऐसे ही कान के आयतन में कान का क्षेत्र, याने कान से संबंधित काम यहीं होगा। यही बात अन्य आयतनों के बारे में भी।

ये छः इंद्रियां भीतर के आयतन हैं, माने शरीर के साथ लगे हैं। इनके आलंबन बाहर के हैं– रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य पदार्थ और धर्म। ये

बाहर के आलंबन भी आयतन कहलाते हैं। पर ये बाहरी आलंबन भी तब तक हमारे लिए आलंबन नहीं हो सकते जब तक आकर शरीर को स्पर्श न कर लें। उदाहरणतया, रूप हमारे लिए रूप नहीं है जब तक यह आकर आंख को न लग जाय। शब्द हमारे लिए शब्द नहीं है जब तक यह आकर कान को न लग जाय। ऐसे ही अन्य बाहरी आलंबन भी। इस प्रकार बाहर के सभी आलंबनों का अस्तित्व शरीर को छूने पर ही है। इसी कारण 'सतिपट्ठान' का सारा काम साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही करना होता है।

इस पर्व के अनुसार काम करते हुए साधक चक्षु को जानता है, रूपों को जानता है, इन दोनों के हेतु से जो बंधन बँधता है उसे जानता है, जब अनुत्पन्न संयोजन की उत्पत्ति होती है उसे जानता है, जब उत्पन्न हुए संयोजन का प्रहाण होता है उसे जानता है, और जब विनष्ट हुए संयोजन की आगे उत्पत्ति नहीं होती है उसे जानता है।

ऐसे ही श्रोत्र और शब्दों के बारे में, घ्राण और गंधों के बारे में, जिह्वा और रसों के बारे में, काय और स्प्रष्टव्य पदार्थों के बारे में और चित्त तथा चैतसिक धर्मों के बारे में जानता है।

और अधिक स्पष्टीकरण के लिए इसे यों समझना चाहिए कि साधक चक्षु को जानता है और साधना करते-करते उस अवस्था पर पहुँच जाता है जहां यह अनुभव करने लगता है कि सारे का सारा शरीर केवल तरंगें ही तरंगें हैं, प्रकंपन ही प्रकंपन है। ध्यान आंख पर गया, तो वह भी प्रकंपन है। भले ही वह आंख को जानता है, पर साथ ही साथ यह भी जानता है कि यह प्रकंपन है, क्योंकि वेदना के साथ जानता है। बाहर का रूप भी तरंग है, पर यह बहुत ऊंची अवस्था में पता चलता है। काम करते हुए इससे कोई लेन-देन नहीं। उस समय तो केवल इसी बात पर ध्यान लगाना होता है कि जैसे ही रूप आंख से टकराया, तब क्या हुआ ? तब यही मालूम होता है कि जैसे ही रूप आंख से टकराया, तरंग है। ऐसे ही शब्द कान से टकराया, तरंग है। गंध नाक से टकरायी, तरंग है। स्वाद जीभ से टकराया, तरंग है। कोई स्प्रष्टव्य पदार्थ त्वचा से टकराया, तरंग है। कोई चिंतन मन से टकराया, तरंग है। तो भीतर और बाहर के छहों आयतनों को तरंगों के रूप में जानने लगता है।

चक्षु से रूप टकराने पर इन दोनों के प्रतीत्य (कारण) से जो संयोजन (बंधन) तैयार होता है उसे जानता है। साधक कच्चा हो, तो इंद्रियों से उनके विषयों का संपर्क होने पर गांठें ही गांठें बांधता है। अभी जो रूप दिखा (भले ही वह तरंग है) और चक्षु से टकराया है (जो भी तरंग है) और

वेदना जागी है, तो यदि संज्ञा ने कहीं यह कह दिया कि यह रूप तो बहुत सुंदर है, तो वेदना बड़ी सुखद लगने लगती है और वह इसके प्रति राग जगा कर बँधने लगता है। यदि संज्ञा ने यह कह दिया कि यह रूप तो बहुत बेकार है, तो वेदना बड़ी दुःखद लगने लगती है और वह इसके प्रति द्वेष जगा कर फिर बँधने लगता है। परंतु यदि साधक इस संयोजन को यथाभूत देखता है, इससे घृणा नहीं करता, न इसे तोड़ने की कोशिश करता है बल्कि इसे केवलमात्र देखता ही है, तो इस संयोजन को तोड़ने का काम स्वयं कुदरत करने लगती है। यों देखते-देखते आंख और रूप को लेकर भीतर दबे हुए पुराने बंधनों के संस्कार निकलने लगते हैं। फिर इनके प्रहाण को जानने लगता है। और जब पूरी तरह से प्रहाण हो गया, तो मुक्त अवस्था प्राप्त हो गयी। अब आंख और रूप से संबंधित कोई बंधन भीतर नहीं रह गया। चूंकि बंधन बनाने का स्वभाव ही जड़ से निकल गया, इसलिए इस प्रकार का कोई नया बंधन बँध ही नहीं सकता।

ऐसे ही अन्य इंद्रियों और उनके विषयों के बारे में भी समझना चाहिए।

इस पर्व के अनुसार काम करते हुए भी फिर वही स्टेशन आते हैं।

(४) बोध्यंग पर्व –

इसमें यह बतलाया गया है कि कोई भिक्षु सात बोध्यंग धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है।

'बोध्यंग' का अर्थ है बोधि के अंग। ऐसे सात अंग हैं – १. स्मृति, २. धर्मविचय, ३. वीर्य, ४. प्रीति, ५. प्रश्रब्धि, ६. समाधि, और ७. उपेक्षा। बुद्ध बनने के लिए इन सातों अंगों की परिपूर्णता नितांत आवश्यक है। 'सतिपट्ठान' का अभ्यास करने से एक-एक अंग अपने आप परिपुष्ट होता चला जाता है।

प्रकृति के बँधे बँधाए नियम होते हैं। चित्त अपने आप में पूर्णतया निर्मल है। इसे तो संस्कार पर संस्कार बना कर, विकार पर विकार जगा कर हम ही मैला बनाते रहते हैं। जैसे-जैसे ये विकार निकलते जाते हैं, वैसे-वैसे चित्त का मूल स्वभाव प्रबल होता जाता है। दुर्गुण दूर होते जाते हैं, सद्गुण आते जाते हैं। इसके लिए हमें करना कुछ नहीं होता है, केवल तटस्थ भाव बनाये रख कर जिस क्षण की जो सच्चाई हो उसे देखना होता है। इसके बाद तो कुदरत अपना काम स्वयं शुरू कर देती है। हमारे चित्त

के मूल स्वभाव के विरुद्ध विकारों की परतें पर परतें उतरने लगती हैं और जो चीजें चित्त के मूल स्वभाव के अनुकूल होती हैं वे बढ़ने लगती हैं। इस प्रकार शनैः शनैः सारे विकार निकल जाते हैं और बोधि के सातों अंग परिपूर्ण हो जाते हैं।

पहला बोध्यंग है **'स्मृति'** (जागरूकता)। जब नया नया साधक काम शुरू करता है तब कुछ देर तो उसकी स्मृति बनी रहती है, फिर नदारद हो जाती है। फिर आती है, फिर चली जाती है। साधक से यही अपेक्षा की जाती है कि जब तक स्मृति बनी रहे तब तक यह जानता रहे कि इस समय मेरे भीतर स्मृति विद्यमान है, और जब तक स्मृति विलुप्त रहे तब तक यह जानता रहे कि इस समय मेरे भीतर स्मृति विद्यमान नहीं है। इस प्रकार वह स्मृति हो तो है और न हो तो नहीं है– ऐसा यथाभूत जानता चला जाय। जैसे दुर्गुण, वैसे सद्गुण भी अंतर्मन की गहराइयों में दबे हुए होते हैं। चूंकि साधक इस समय अपनी स्मृति को बनाये रखने का सक्रिय अभ्यास कर रहा होता है, अतः स्मृति के पहले से दबे हुए संस्कार उभर उभर कर ऊपर आने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि स्मृति की भावना होने लगती है, याने कि यह घटना घटने लगती है। बार-बार घटने लगती है। इसका बहुलीकरण होने लगता है। यों होते-होते यह परिपूर्ण हो जाती है। इसमें कहीं कोई कोर-कसर नहीं रह जाती।

दूसरा बोध्यंग है **'धर्मविचय'**। इसका आशय है प्रकट हुए धर्म का विचयन, विभाजन करते हुए उसे देखना। उदाहरणतया, इस समय मन में क्रोध जागा है जो बड़ा घनीभूत होकर आया है। वैसे तो यह शरीर और चित्त के संपर्क से घटित होने वाली एक घटना मात्र है, परंतु क्रोध का चयन, एकत्रीकरण हो जाने से मन भ्रांत हो जाता है। इस घनीभूत क्रोध को वेदनाओं के स्तर पर साक्षीभाव से देखने से इसका विचयन होने लगता है, इसके टुकड़े टुकड़े होने लगते हैं। यही धर्मविचय है। इसका उद्देश्य प्रकट हुए सत्य को टुकड़े टुकड़े करके उसके भीतर की वास्तविक सच्चाई को देखना है। यहां भी पहले बोध्यंग के समान ही धर्मविचय की विद्यमानता, अविद्यमानता को यथाभूत जानना होता है। इसके फलस्वरूप धर्मविचय के पहले के दबे हुए संस्कार उभर-उभर कर ऊपर आने लगते हैं, और इसकी भावना होने से इस बोध्यंग की भी परिपूर्णता हो जाती है।

तीसरा बोध्यंग है **'वीर्य'**। वीर्य का अर्थ है पराक्रम, पुरुषार्थ। यहां पुरुषार्थ यही है कि शरीर और चित्त के संपर्क के कारण जो प्रपंच प्रकट हो उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया न होने पाये। इसमें भी पूर्ववत साधना करते समय वीर्य की

विद्यमानता, अविद्यमानता को यथाभूत जानना होता है, जिसके परिणामस्वरूप वीर्य के पहले के दबे हुए संस्कार उभर-उभर कर ऊपर आने लगते हैं, और इसकी भावना होने से इस बोध्यंग की भी परिपूर्णता हो जाती है।

आगे के बोध्यंग हैं 'प्रीति', 'प्रश्रब्धि', 'समाधि' तथा 'उपेक्षा'। इनकी परिपूर्णता भी उसी प्रकार होती है जैसे पहले तीन बोध्यंगों की। फिर भी इनके बारे में नीचे दी गई जानकारी होना आवश्यक है।

'प्रीति'। जब काम करते-करते चित्त में से बहुत से विकार निकल जाते हैं, तब भीतर-ही-भीतर आनंद की लहरें उठने लगती हैं। इसे उन दिनों की भाषा में कहते थे कि प्रीति-प्रमोद जागने लगता है। दुःखद वेदनाओं से छुटकारा होकर प्रीति-प्रमोद का जागना बहुत काम की बात है। यह धर्म का आवश्यक अंग है। पर यदि इसके प्रति आसक्ति हो जाय तो 'प्रीति' भी बांधने वाली हो जाती है। अतः साधक केवल इतना मात्र जाने कि इस समय प्रीति जागी हुई है या नहीं, पुलक-रोमांच हो रहा है या नहीं।

'प्रश्रब्धि'। विकारों के निकलते निकलते पहले तो बहुत आनंद आता है। और कोई-कोई साधक उसमें उलझ भी जाते हैं, बीच की धर्मशाला में अटके रह जाते हैं। पर जो साधक इसके अनित्य स्वभाव की निरंतर जानकारी बनाये रखते हैं, उनकी आनंद की लहरें दूर होने लगती हैं और वे प्रश्रब्धि की अवस्था में पहुँच जाते हैं। यह प्रश्रब्धि इतनी गहरी होती है कि उनको एक शब्द भी शोर समान प्रतीत होता है, सांस का आना-जाना भी अखरने लगता है।

'समाधि'। इन अवस्थाओं पर पहुँचते-पहुँचते समाधि सहज हो जाती है। गहरी समाधियां लगने लगती हैं। पहले से चौथे ध्यान की समापत्तियां सुलभ हो जाती हैं।

'उपेक्षा'। इसका तात्पर्य समता से है। हर अवस्था में समता बनाये रखना इस साधना-विधि की एक अपरिहार्य आवश्यकता है। समता बनाये रखने से न केवल 'उपेक्षा' बोध्यंग की परिपूर्णता होती है, बल्कि इससे दूसरे बोध्यंगों के परिपूर्ण होने में भी सहायता मिलती है।

इस पर्व के अनुसार कार्य करता हुआ भी साधक पहले के समान सभी स्टेशनों में से गुजरता हुआ विमुक्ति का लाभी होता है।

(५) चार सत्यों का पर्व –

इस पर्व में यह बतलाया गया है कि कोई भिक्षु चार आर्यसत्य धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है।

इसमें साधक यथाभूत जानने लगता है : 'यह दुःख है', 'यह दुःख का समुदय है', 'यह दुःख का निरोध है', और 'यह दुःख का निरोध प्राप्त कराने वाली प्रतिपदा है।'

तदुपरांत भगवान ने यह भी बतलाया है कि क्या होते हैं 'दुःख आर्यसत्य', 'दुःख-समुदय आर्यसत्य', 'दुःख-निरोध आर्यसत्य' और 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य'।

दुःख, दुःख का समुदय (कारण), दुःख का निरोध और दुःख का निरोध प्राप्त कराने वाली प्रतिपदा – ये चारों जीवन जगत की सच्चाईयां हैं। लेकिन ये सच्चाईयां तब तक हमारे काम नहीं आ सकतीं जब तक कि ये आर्य न बन जायं; तात्पर्य – हमें आर्य बनाने में सहायक न हो जायं।

दुःख सत्य –

उदाहरण के लिए 'दुःख' की ही समीक्षा करें। कौन नहीं भुगतता है दुःख को ? किसी को किसी बात का दुःख होता है, किसी को किसी बात का। एक ही व्यक्ति को भी कभी किसी बात का, कभी किसी बात का। पर दुःख भोगने से कोई व्यक्ति आर्य नहीं बन जाता, स्रोतापन्न नहीं बन जाता, अरहंत नहीं बन जाता। परंतु यदि कोई व्यक्ति दुःख को 'यथाभूत' जानने लगता है, यह जैसा है इसे वैसे ही जानने लगता है, प्रज्ञापूर्वक जानने लगता है ('पजानाति'), अथवा इसके स्वभाव को अनुभूति के स्तर पर जानने लगता है, तब यह 'आर्य सत्य' बन जाता है। दुःख की अनुभूति तो वह व्यक्ति भी करता है जो रोते, कराहते इसे भोक्ताभाव से देखता है, परंतु इसे 'पजानाति' नहीं कह सकते। जब कोई व्यक्ति इसे द्रष्टाभाव अथवा साक्षीभाव से देखता है तब वह दुःख के स्वभाव को प्रज्ञापूर्वक जानने लगता है ('पजानाति')। दुःख का स्वभाव है उदय होना, व्यय हो जाना; उदय होना, व्यय हो जाना। जब ऐसा व्यक्ति दुःख को प्रज्ञापूर्वक जानते-जानते इसको पूरी तरह से जान लेता है, जानने के लिए

कुछ भी शेष नहीं रह जाता है, तब ऐसे व्यक्ति के लिए कहा जाता है – 'परिजानाति' (परिधि तक जानता है)।

दु:ख को इसकी परिधि (अंतिम सीमा) तक जानने के लिए आवश्यक है कि इसका परिज्ञान करने वाला साधक दु:खद से दु:खद अनुभूति से लेकर सुखद से सुखद अनुभूति को प्रज्ञापूर्वक जाने, अर्थात इनके स्वभाव को जाने। ऐसा साधक अपनी अनुभूति के बल पर जान जाता है कि सुखद से सुखद अनुभव भी विपरिणामधर्मा है, अर्थात दु:ख में बदल जाता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सुख भी अनित्य स्वभाव वाला है और इसमें दु:ख समाया रहता है।

यहां एक बात और भी समझ में आती है कि जब कोई साधक दु:खद वेदना को प्रज्ञापूर्वक देखने का काम करता है, माने उसके प्रति द्वेष नहीं जगाता है, तो यह कार्य तो जैसे-तैसे संपन्न हो जाता है, परंतु जैसे ही सुखद वेदना आने लगती है, तब उसे प्रज्ञापूर्वक देखना बड़ा कठिन हो जाता है। मन खुशियों से नाचने लगता है – देख, कैसा पुलक-रोमांच हो रहा है! कैसा धारा-प्रवाह चल रहा है! बस, मुक्त अवस्था मिल गयी! इस प्रकार वह उस अवस्था के प्रति राग पैदा करता है। सुखद वेदना भी अनित्य होने के कारण देर-सवेर समाप्त हो जाती है, और फिर दु:खद वेदना आ जाती है जिससे अपरिपक्व साधकों में निराशा आने लगती है। यों अनुभूतियां करता हुआ साधक धीरे-धीरे समझ जाता है कि दु:खद वेदना तो प्रत्यक्ष दु:ख है ही, सुखद वेदना भी दु:ख ही है। इस प्रकार शरीर और चित्त का सारा प्रपंच दु:ख ही है। परंतु जो कोई इस सारे प्रपंच को देख कर इससे परे चला जाता है, अर्थात छहों इंद्रियों के क्षेत्र से परे चला जाता है, इंद्रियातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जहां न कोई उत्पाद होता है न व्यय, वहां पहुँच कर वह व्यक्ति यथार्थ रूप में कह सकता है कि मैंने दु:ख का परिज्ञान (परिधि तक ज्ञान) कर लिया है। परिपूर्ण ज्ञान कर लिया है।

शनैः शनैः कदम रखते हुए ही यह अवस्था आती है। काम शुरू करते ही कोई अंतिम अवस्था पर नहीं पहुँच जाता। काम शुरू करते समय तो दु:ख को भोक्ताभाव की बजाय द्रष्टाभाव से देखना आरंभ करना चाहिए। जैसे-जैसे इस कार्य में प्रगति होती चली जायगी, दु:ख सत्य आर्य सत्य बनता चला जायगा।

ऐसे ही दु:ख के समुदय को यथाभूत जानना होता है। दु:ख का समुदय, माने दु:ख का कारण। कहने को तो कहा जाता है कि दु:ख का कारण आया है, पर वस्तुतः जो कारण आता है उसके साथ साथ दु:ख आता

है, दु:ख का उदय होता है। ऐसा नहीं होता कि दु:ख का कारण पहले आता हो और दु:ख बाद में आता हो। तृष्णा जागती है तो दु:ख लेकर ही जागती है। जब इसे भी साक्षीभाव से देखते हैं, तभी काम की बात बनती है।

जब कोई साधक दु:ख के समुदय को साक्षीभाव से देखता चला जाता है, तब देखते-देखते अंतिम अवस्था तक जा पहुँचता है। दु:ख से परे की अवस्था तक जा पहुँचता है और उसका भी साक्षात्कार कर लेता है। यही कहलाती है दु:ख-निरोध की अवस्था।

यह सारे का सारा मार्ग 'दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपदा' कहलाता है। यह किसी जातिविशेष, वर्णविशेष, संप्रदायविशेष के लिए नहीं है। यह मार्ग सार्वजनीन है, जैसा कि दु:ख का होना एक सार्वजनीन बात है, दु:ख का कारण एक सार्वजनीन बात है और दु:ख का निवारण भी एक सार्वजनीन बात है। यह कोई मान्यता या फिलोसोफी (philosophy) नहीं है। इसका हर कदम जान्यता है।

अब यह ज्ञातव्य है कि 'दु:ख आर्यसत्य' क्या है? जन्मना दु:ख है, बुढ़ापा दु:ख है, बीमारी दु:ख है, मरना दु:ख है; किसी प्रकार के हार्दिक संताप में से गुजरना दु:ख है, रोना-चिल्लाना दु:ख है, शारीरिक वेदनाओं का दु:ख है, मानसिक पीड़ा का दु:ख है, और चिंताओं का दु:ख है। किसी अप्रिय का संयोग दु:ख है, प्रिय का वियोग दु:ख है; जो जो इच्छा करता है और वह पूरी नहीं होती, इसका दु:ख है।

और जो सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण दु:ख है, जिसका साक्षात्कार करने से मुक्त अवस्था प्राप्त होती है, वह है पांच स्कंधों के प्रति आसक्ति। ये पांच स्कंध हैं– रूप (परमाणुओं का पुंज) और मानस के चार खंड (विज्ञान, संज्ञा, वेदना तथा संस्कार)। इन पांचों को मिला कर जो व्यक्तित्व बनता है, उसके साथ उपादान, आसक्ति, 'मैं' 'मेरे' का भाव। यह बात गहराइयों से तभी समझ में आती है जब चित्त संक्षिप्त हो, सिमटा हुआ हो।

'सतिपट्ठान' इसीलिए करना होता है कि गहराइयों में जाते जाते, पंचस्कंध का विभाजन करते-करते, विघटन करते-करते, एक-एक स्कंध का अनित्य स्वभाव समझते हुए उसके प्रति जो उपादान है, उससे कैसे दु:ख हो रहा है इसे समझते हुए, उस उपादान का खात्मा करें, याने दु:ख का खात्मा करें और मुक्त अवस्था प्राप्त कर लें।

समुदय सत्य –

इसमें यह प्रज्ञप्त किया गया है कि दुःख के समुदय, अर्थात कारण, का आर्यसत्य क्या है। यह है 'तृष्णा' – जो बार-बार उत्पन्न होती है, कामनाओं के साथ उत्पन्न होती है, राग के साथ उत्पन्न होती है, कभी इस विषय को लेकर और कभी उस विषय को लेकर अभिनंदन करती रहती है।

मुख्य रूप से तृष्णा तीन प्रकार की होती है– १. कामतृष्णा, २. भवतृष्णा और ३. विभवतृष्णा। 'कामतृष्णा' के अंतर्गत कामवासना के प्रति जागने वाली तृष्णा का समावेश तो है ही, पर यहां इससे अभिप्राय है हर प्रकार की कामना के प्रति जागने वाली तृष्णा से। यह तृष्णा खतरनाक साबित होती है। ऐसे ही बड़ी खतरनाक है 'भवतृष्णा'। यह होती है 'मैं' को कायम रखने की तृष्णा। मैं इस भव से उस भव में जन्म लूं, और अच्छे-अच्छे, ऊंचे-ऊंचे भवों में जन्म लेता चला जाऊं। 'मैं' कायम रहूं। ऐसे ही है तीसरी 'विभवतृष्णा'। कोई-कोई व्यक्ति बड़ा व्याकुल हो जाता है– अरे, बार-बार का जन्म! बार-बार का मरण!! मैं नहीं चाहता मेरा पुनर्जन्म हो। यों विभव के लिए व्याकुल हो उठता है। व्याकुल होने का मतलब ही यही है कि इसके मूल में कोई-न-कोई तृष्णा है। कोई व्यक्ति निर्वाण के लिए व्याकुल हो उठे, तो उसे निर्वाण प्राप्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा, वह निर्वाण से विपरीत दिशा में आगे बढ़ता चला जायगा।

फिर इस प्रश्न का समाधान भी किया गया है कि आखिर यह तृष्णा जागती कहां है ? कहां पैठती है ? यह तृष्णा इस लोक में, अर्थात इस साढ़े तीन हाथ की काया में, जो कुछ प्रिय लगता है, अच्छा लगता है, वहां जागती है, वहां पैठती है। भले ही यह सारा विश्व रूप, शब्द, गंध आदि विषयों से भरा पड़ा है, पर इन बाहर के आलंबनों में तृष्णा नहीं जागती, यह हमारे भीतर ही जागती है।

फिर आगे यह स्पष्ट किया गया है कि साढ़े तीन हाथ की काया में क्या प्रिय लगता है, क्या अच्छा लगता है। ये हैं इसकी छहों इंद्रियां– चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन। उदाहरणतया, चक्षु-लोक में कोई स्पर्श हुआ जो बड़ा प्रिय लगा, अच्छा लगा, तो वहीं तृष्णा जागने लगी, वहीं पैठने लगी। जैसे ये छः इंद्रियां, वैसे ही इनके छः विषय– रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य तथा धर्म। जब यह सारे का सारा संसार इस लोक के

साथ आकर जुड़ता है, इसे स्पर्श करता है, और वह प्रिय लगता है, अच्छा लगता है, तो वहीं तृष्णा जागने लगती है, पैठने लगती है।

ऐसे ही प्रिय अथवा अच्छे लगने के कारण तृष्णा जागने अथवा पैठने के स्थान हैं– चक्षु आदि के विज्ञान, चक्षु आदि के संस्पर्श, चक्षु आदि के संस्पर्श से होने वाली वेदनाएं, रूप आदि की संज्ञाएं, रूप आदि की संचेतनाएं, रूप आदि की तृष्णाएं, रूप आदि के वितर्क, और रूप आदि के विचार।

यहां यह समझ लेना भी आवश्यक है कि–

● हर इंद्रिय का विज्ञान अलग होता है; जैसे चक्षु का विज्ञान अलग, श्रोत्र का अलग, घ्राण का अलग। चक्षु का विज्ञान सुनने का काम नहीं कर सकता, न ही सूंघने का। श्रोत्र का विज्ञान देखने का काम नहीं कर सकता, न सूंघने का। घ्राण का विज्ञान देखने का काम नहीं कर सकता, न सुनने का। शुरू शुरू में लगता है कि विज्ञान एक ही होता है जो देखता भी है, सुनता भी है, सूंघता भी है, इत्यादि परंतु ध्यान की ऊंची अवस्थाओं में यह स्पष्ट हो जाता है कि हर इंद्रिय का विज्ञान अलग होता है और एक इंद्रिय का विज्ञान किसी दूसरी इंद्रिय के विज्ञान का काम नहीं कर सकता।

● 'संचेतना' से अभिप्राय है कि चित्त में किस तरह का भाव जागा– अच्छा, या बुरा ? चित्त की चेतना कैसी है, माने संस्कार कैसा बना रहा है ?

● 'वितर्क' से अभिप्राय है किसी भी इंद्रिय-द्वार पर बाहर के आलंबन का पहला प्रतिघात, पहला स्पर्श। उदाहरणतया, चक्षु के द्वार पर कोई रूप टकराया, तो तज्जनित अनुभूति 'वितर्क'। और उसे आलंबन बना कर मन उसमें विचरण करने लगे, तो वह कहलाता है 'विचार'! पहले दिये गये उदाहरण में वितर्क के उत्पन्न होते ही यदि यह चिंतन चल पड़े कि वह रूप तो अच्छा है, या बुरा है और बात आगे बढ़ते-बढ़ते प्रपंच शुरू हो जाय, मन उसी में विचरण करता चला जाय, तो उसे 'विचार' की संज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार तृष्णा कभी यहां जागती है कभी वहां, पर जागती है इस लोक (साढ़े तीन हाथ की काया) में ही। यह भीतर-ही-भीतर जागती है, पैठती है, और इसके साथ-ही-साथ होता है 'दुःख का समुदय'। 'दुःख' और 'दुःख का कारण' दोनों साथ-साथ जागते हैं।

निरोध सत्य –

इसमें यह प्रज्ञप्त किया गया है कि दुःख के निरोध का आर्यसत्य क्या है। पहले तो यह समझना चाहिए कि 'निरोध' से क्या तात्पर्य है। आजकल

तो इस शब्द का अर्थ दबाना, अथवा रोकना, है। परंतु भारतवर्ष की पुरानी भाषा में इसका आशय होता था जड़ से उखाड़ देना। जब जड़ भी न रह जाती, तभी 'निरोध' होता था। इस परिप्रेक्ष्य में 'दुःख का निरोध' क्या है ?

जिस तृष्णा के बारे में अभी-अभी प्रकाश डाला गया है उसका अशेष विराग, निरोध, त्याग, प्रतिनिसर्ग, मोचन, ठौर-ठिकाने का न रहना 'दुःख का निरोध' है। तृष्णा जड़ से निकल जाय, ऐसा कोई आलंबन न रह जाय जिसके प्रति तृष्णा जाग सकती हो, तभी सही माने में दुःख का निरोध होता है। पिछले प्रकरण में यह समझाया गया था कि तृष्णा कहां जागती है, कहां पैठती है, इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि तृष्णा का कहां प्रहाण होता है, कहां निरोध होता है।

इसमें भी वही बात! इसी लोक (साढ़े तीन हाथ की काया) में जो प्रिय लगता है, जो अच्छा लगता है, जहां तृष्णा जागती है, पैठती है – वहीं इसका प्रहाण होता है, वहीं इसका निरोध। वहीं से इसकी जड़ें निकालनी होती हैं। ये स्थान वही हैं जिनका उल्लेख पिछले प्रकरण में हुआ है, अर्थात छहों इंद्रियां और उनके विषय, इंद्रियों के अपने-अपने विज्ञान और संस्पर्श, संस्पर्श-जनित वेदनाएं, बाह्य आलंबनों की संज्ञाएं, संचेतनाएं, तृष्णाएं, वितर्क और विचार।

ध्यान की ऊंची अवस्थाओं में ही यह पूर्णतया स्पष्ट हो पाता है कि तृष्णा कहां-कहां जागती है। उन अवस्थाओं में साधक अपने सभी स्कंधों के टुकड़े-टुकड़े कर उन्हें जानने की क्षमता हासिल कर लेता है।

ऐसा संभव है कि किसी व्यक्ति को रूप के प्रति तृष्णा न जागे, पर शब्द के प्रति जाग सकती है। किसी को गंध के प्रति नहीं, तो रस के प्रति जाग सकती है। पर जब कभी जागेगी, तब जागेगी इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही। जहां कुछ भी प्रिय लगा, अच्छा लगा, वहीं तृष्णा जागेगी। यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि क्या प्रिय लगता है, अच्छा लगता है ? वस्तुतः शरीर पर होने वाली वेदना प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। वेदना प्रिय लगने, अच्छा लगने से राग जागने लगता है, और राग जागता है तो तृष्णा जागने लगती है। अतः वेदना के स्तर पर तृष्णा को नष्ट करना होता है। सक्रिय अभ्यास करते-करते कोई भी व्यक्ति उस अवस्था पर पहुँच जाता है जहां तृष्णा का सर्वथा निरोध हो जाता है। निरोध इस माने में कि सभी इंद्रियों का क्षेत्र, पांच स्कंधों का क्षेत्र, काम करना बंद कर देता है और उससे परे की अवस्था का साक्षात्कार हो जाता है। इस प्रकार तृष्णा जहां-कहीं जाग सकती थी, वहीं-वहीं काम होना बंद हो

गया। उससे परे की अवस्था में तृष्णा जाग ही नहीं सकती। यही कहलाती है – 'निरोध अवस्था'।

मार्ग सत्य –

'मार्ग' क्या है ? दुःखनिरोध की ओर ले जाने वाली प्रतिपदा। इसका आर्यसत्य क्या है ? यही आर्य अष्टांगिक मार्ग, अर्थात सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्मांत, सम्यक आजीविका, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति तथा सम्यक समाधि।

तदुपरांत भगवान ने इस मार्ग के इन आठ अंगों में से प्रत्येक का विवेचन करते हुए इनका आशय स्पष्ट किया है। उनकी यत्किंचित समीक्षा नीचे की जा रही है।

सम्यक दृष्टि – प्रत्यक्ष अनुभूति वाला सम्यक ज्ञान। कैसा है यह ज्ञान ? दुःख का दर्शन करते-करते, दुःख के दर्शन को सम्यक दर्शन बनाते-बनाते जो ज्ञान जागता है, वह सम्यक ज्ञान। दुःख के कारण का दर्शन करते-करते जो दर्शन सम्यक बनता है, उस सम्यक दर्शन से जो ज्ञान जागता है, वह सम्यक ज्ञान। ऐसे ही निरोध की अवस्था का साक्षात्कार करते-करते जो सम्यक दर्शन बनता है, उससे जो ज्ञान जागता है, वह सम्यक ज्ञान। ऐसे ही आर्य अष्टांगिक मार्ग का दर्शन करते-करते जो सम्यक दर्शन बनता है, अपनी अनुभूतियों पर सच्चाई उतरती है, उससे जो ज्ञान जागता है, वह सम्यक दृष्टि होती है। यदि सच्चाई अपनी अनुभूति पर उतरे, तभी दृष्टि सम्यक होती है, अन्यथा मिथ्या ही मिथ्या।

तृष्णा से दुःख जागता है, इसमें दो मत नहीं। राग और द्वेष से दुःख जागता है, इसमें भी दो मत नहीं। लेकिन जब तक किसी व्यक्ति को इसकी अनुभूति नहीं होती, इसे साक्षात्कार कर प्रज्ञा से देख नहीं लेता है और इसे केवल मानता रहता है, तब तक उसकी दृष्टि मिथ्या ही रहती है, सम्यक नहीं होती। यह सम्यक तभी होती है जब वह इसे यथाभूत (जैसा है वैसा) जानने लगता है।

सम्यक दर्शन के लिए पूर्व-वर्णित चारों सच्चाईयों को यथाभूत जानना होता है। इससे स्पष्ट होगा कि परंपरागत मान्यताएं सम्यक दर्शन की श्रेणी में नहीं आती हैं, क्योंकि ये महज मान्यताएं होती हैं, इनको मानने वाला इनकी यथाभूत जानकारी नहीं करता है।

सम्यक संकल्प – काम शुरू करते समय संकल्प-विकल्प चलते हैं।

आरंभ में ये विविध प्रकार की कामनाओं, तृष्णाओं, द्वेष, विहिंसा आदि से संबंधित होते हैं। पर ये सम्यक कैसे हों ? अतः नैष्क्रम्य (निष्कामता अथवा निष्क्रमण), द्वेषविहीनता तथा अविहिंसा से संबंधित संकल्पों का होना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए चित्त में जैसा भी संकल्प जागे उसे केवल जानना होता है, उसे दूर करने की जरा-सी भी कोशिश नहीं करनी होती है। यदि कोई ऐसा उपक्रम करने लगे कि ये विचार तो निकलने चाहिएं, ये विचार दूर होने चाहिएं, तो यह सम्यक संकल्प नहीं कहलाता। इस प्रकार के कलुषित विचारों को जानते रहने से जब मन इनसे रिक्त हो जाता है, तब होता है सम्यक संकल्प।

सम्यक वचन – यह होता है झूठ बोलने से दूर रहना, चुगली खाने से दूर रहना, कटु वचन बोलने से दूर रहना, निकम्मी फजूल बातों से दूर रहना। इसे मात्र बुद्धि के स्तर पर जान लेने से कुछ मिलता-मिलाता नहीं है। साधक सचमुच जानने लगे कि ऐसा है न ? मैं जो कुछ बोल रहा हूं उसमें झूठ का अंश नहीं है – ऐसा साक्षात्कार कर देखने लगे – तभी बात बनती है। ऐसे ही चुगली, कटु वचन तथा निकम्मी फजूल बातों के बारे में भी।

सम्यक कर्मांत – इसके लिए इन तीन का दर्शन करना होता है – मेरे शरीर का ऐसा कोई कर्म नहीं है जिससे औरों की हत्या हो जाय, चोरी हो जाय, व्यभिचार हो जाय। इनसे विरमण है, विरति है – इस सच्चाई का साक्षात्कार हो।

सम्यक आजीविका – मिथ्या आजीविका के अंतर्गत जो बातें समझायी गईं, उनसे विरमण। तब जो कुछ बच जाता है वही होती है सम्यक आजीविका।

सम्यक व्यायाम – यह चार प्रकार के प्रयत्नों का समुच्चय है : १. जो पाप अभी तक मन में जागा नहीं है, वह जाग न जाय, इसके लिए प्रयत्न; २. जो पाप मन में जाग गया है, उसे दूर करने का प्रयत्न; ३. जो अच्छे कुशल धर्म अभी तक मन में न जागे हों, उनको जगाने का प्रयत्न; और ४. जो अच्छे कुशल धर्म मन में जाग गये हों, उनको बनाये रखने वा बढ़ाने का प्रयत्न।

इन प्रयत्नों के अंतर्गत एक ही काम करना होता है, और वह यह है कि जिस क्षण चित्त की जैसी भी स्थिति हो, उसकी यथाभूत जानकारी बना कर रखी जाय। यदि साधक ऐसा करता चला जायगा तो मन में कोई पाप जाग जाने पर स्वतः ही दूर हो जायगा और न जगा होने पर जाग नहीं पायगा, क्योंकि सारा काम बिना राग, बिना द्वेष, समता से करना होता

है। क्षण-प्रति-क्षण चित्त की यथाभूत जानकारी बनाये रखने से चित्त के विकार अपने आप दूर होते जाते हैं और इसमें सद्धर्म अपने आप जागने लगते हैं और उनका संवर्द्धन होने लगता है। यह प्रकृति का नियम है।

सम्यक स्मृति – स्मृति सम्यक तब होती है जब कोई साधक राग और द्वेष को दूर कर श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, काया में कायानुपश्यना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्मों में धर्मानुपश्यना करे।

यदि केवल स्मृति की बात हो, तो उसका इससे कुछ लेना-देना नहीं होगा। उसमें तो केवल जागरूकता होती है। किसके प्रति जागरूकता होती है ? जैसे सर्कस की लड़की अपना संतुलन बनाये रखने के लिए बड़ी जागरूक होती है, अथवा कोई नर्तकी अपने शरीर की भाव-भंगिमा के प्रति बड़ी जागरूक होती है। यह सम्यक स्मृति नहीं होती। सम्यक स्मृति तो तब होती है जब साधक की सजगता उसकी अपनी काया पर होने वाली वेदनाओं और चित्त पर होने वाले धर्मों के प्रति होती है। और यह सजगता भी ऐसी कि जिसमें साधक हो– आतापी, सम्पजानो, सतिमा (उद्योगशील, संप्रज्ञानी और स्मृतिमान)। और यही नहीं, वह अपने आप को राग और द्वेष से दूर रखे हुए केवल द्रष्टा हो। इस प्रकार सम्यक स्मृति के साथ संप्रज्ञान का जुड़ा होना, और ऐसे ही रागविहीनता तथा द्वेषविहीनता का जुड़ा होना अनिवार्य है।

सम्यक समाधि – इसके अंतर्गत साधक को चार ध्यानों की अवस्थाएं प्राप्त होती हैं– प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान और चतुर्थ ध्यान।

प्रथम ध्यान की अवस्था प्राप्त करने के लिए ये पांच बातें जरूरी हैं– काम-संबंधी (अथवा कामनाओं के) बार-बार उठने वाले विचारों से दूर होना; इसी प्रकार अकुशल धर्मों से दूर होना; वितर्क का रहना; विचार का रहना; और विवेक से उत्पन्न होने वाले प्रीति-सुख का होना। (इस ध्यान में वितर्क अथवा विचार ऐसे नहीं होते जो काम-वासनाओं, अथवा कामनाओं, से जुड़े हों, क्रोध से जुड़े हों, अकुशल धर्म वाले हों। इनसे दूर होने की वजह से भीतर जागने वाले प्रीति-सुख को विवेक से उत्पन्न होने वाला कहा गया है।)

द्वितीय ध्यान की अवस्था में सभी वितर्क, विचार बंद हो जाते हैं। इनका उपशमन हो जाता है। अब जो प्रीति-सुख अनुभूति पर उतरता है वह वितर्क-विचार के न होने का प्रीति-सुख होता है। वितर्क-विचार का न होना ही अपने आप में बहुत प्रीति-सुख जगाता है। यह प्रीति-सुख समाधि से उत्पन्न हुआ प्रीति-सुख होता है।

तृतीय ध्यान की अवस्था में प्रीति दूर हो जाती है। प्रीति से तात्पर्य

शरीर पर जागने वाली आनंद की लहरों से है। यह दूर हुई, तो उपेक्षा का भाव जागता है। अब रह जाते हैं स्मृति और संप्रज्ञान, और शरीर पर सुखद वेदना का अनुभव। आर्य अवस्था पर पहुँचे हुए लोग ऐसे व्यक्ति के लिए कहते हैं– 'उपेक्षक, स्मृतिमान, सुखविहारी' (उपेक्षा के प्रति स्मृति रख कर सुख का विहार करने वाला)।

चतुर्थ ध्यान की अवस्था में काया के सुख और दुःख – ये दोनों निकल जाते हैं। मन को सुमन और दुर्मन बनाने वाली बातें पहले ही खत्म हो गयी होती हैं, जैसा कि कामनाओं के प्रति चिंतन चलना और अकुशल धर्मों के प्रति चिंतन चलना – इन्हें प्रथम ध्यान की अवस्था में ही छोड़ दिया जाता है। इन सबके हट जाने पर रह जाते हैं– उपेक्षा और स्मृति की परिशुद्धता।

भगवान बुद्ध के समय से पहले ही अनेक प्रकार की समाधियां चली आ रही थीं। इन्हें लोकीय समाधियां कहते थे। यह लोकीय इस माने में थीं कि इनमें शरीर के भीतर संप्रज्ञान जगाने का काम नहीं होता था। शरीर के भीतर वेदनाओं के स्तर पर होने वाले उत्पाद, व्यय की जानकारी नहीं की जाती थी। इन समाधियों का अभ्यास करने वाले लोग किसी आलंबन को लेकर ध्यान करते चले जाते थे, बार-बार ध्यान करते थे और ऊंची अवस्थाओं को प्राप्त कर लेते थे। उन समाधियों में भी प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता – ये पांच अंग बने रहते थे। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार समाप्त हो जाने से प्रीति, सुख, एकाग्रता – ये तीन अंग बने रहते थे। तृतीय ध्यान में प्रीति समाप्त हो जाती थी, और चतुर्थ ध्यान में सुख के भी समाप्त हो जाने पर शेष रह जाती थी – एकाग्रता। इन चारों ध्यानों में संप्रज्ञान कहीं नहीं था। और संप्रज्ञान न होने से युक्त अवस्था कैसे प्राप्त होती ? जड़ों से विकार निकाले बिना मुक्त अवस्था प्राप्त करना असंभव है। अपने भीतर संप्रज्ञान जगाये बिना यह काम हो नहीं सकता। अतः लोकीय समाधियों को सम्यक समाधि की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सम्यक समाधि का संप्रज्ञान से युक्त होना एक अनिवार्यता है।

इस प्रकार दुःखनिरोध की ओर ले जाने वाली प्रतिपदा का आर्यसत्य था – यह आर्य अष्टांगिक मार्ग, जिसके प्रत्येक अंग की समीक्षा ऊपर की गयी है। इनकी भी धर्मानुपश्यना करते हुए साधक पहले की तरह उन्हीं स्टेशनों में से गुजरता है और चार आर्यसत्यों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

'सतिपट्ठान' की भावना करने का फल

'महासतिपट्ठान सुत्त' में भगवान ने यह प्रज्ञप्त किया है कि जो कोई इन चार स्मृतिप्रस्थानों की उनके बतलाये अनुसार भावना करे, उसे इन दो फलों में से किसी एक की आशा रखनी चाहिए – इसी जीवन में अरहंत अवस्था का साक्षात्कार अथवा थोड़ी-सी उपाधि (मलिनता) शेष रह जाने पर अनागामी अवस्था की प्राप्ति। उन्होंने यह भी प्रज्ञप्त किया है कि यह फल अधिक से अधिक सात वर्ष और कम से कम सात दिन में प्राप्त हो सकता है।

इस प्रज्ञप्ति को अनेक साधक संशय की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि सात वर्ष से कहीं अधिक समय तक विपश्यना का सक्रिय अभ्यास करते रहने पर भी उन्हें अरहंत अथवा अनागामी अवस्था तो क्या, स्रोतापन्न अवस्था भी प्राप्त नहीं हुई होती है। इस संबंध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भगवान की प्रज्ञप्ति केवल उन्हीं साधकों पर लागू हो सकती है जो स्मृति-प्रस्थान का काम सर्वथा उनके उपदेश के अनुरूप करें। भगवान का उपदेश है कि साधक क्षण भर भी संप्रज्ञान से रिक्त न हो ('सम्पजञ्ञं न रिञ्चति')। यह अवस्था प्राप्त कर लेने पर किसी को अरहंत अथवा अनागामी होने में सात वर्ष भी लग सकते हैं अथवा केवल सात दिन भी!

भगवान के जीवनकाल में ऐसी घटनाएं भी घटीं जबकि कोई व्यक्ति सही रूप से उनकी बात समझ कर विपश्यना करते हुए घंटे भर में ही अरहंत हो गया। जैसे बाहिय दारुचीरिय ने भगवान की यह बात समझ ली कि 'देखने में मात्र देखना हो, सुनने में मात्र सुनना, इत्यादि' ('दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति, सुते सुतमत्तं भविस्सति,...') और लगा काम करने और अल्प काल में ही अरहंत अवस्था तक पहुँच गया।

ये अवस्थाएं भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न समयावधि में प्राप्त होती हैं। भगवान चाहते थे कि साधक रात-दिन तंद्राविहीन बना रह कर साधनाभ्यास में लगे ('रत्तिन्दिवमतन्दितो')। इस प्रकार साधक की साधना में निरंतरता का आना एक अनिवार्य आवश्यकता है। यदि साधक को रात में झपकी आने से नींद आ जाय तो उसके अभ्यास की निरंतरता टूट ही जाती है। अतः उसे 'सतिपट्ठान' से अपेक्षित फल भगवान द्वारा निर्धारित समयावधि में कैसे प्राप्त हो सकता है?

वस्तुस्थिति तो यह है कि रात-दिन की निरंतरता प्राप्त होने में समय

लगता है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए अनेक पूर्वजन्मों की पारमिताओं का होना आवश्यक होता है। जिस व्यक्ति के पास जितनी अधिक पारमिताएं होती हैं वह उतने ही कम समय में इस अवस्था पर आ पहुँचता है, और इस अवस्था पर आकर उतने ही कम समय में मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न समयावधि में अरहंत अथवा अनागामी अवस्था प्राप्त होती है। अतः हर मुमुक्षु की पिछले जन्मों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

इसी संदर्भ में यह जान लेना भी आवश्यक है कि बोधिसत्त्व रहते हुए यदि कोई व्यक्ति दसों पारमिताओं को परिपूर्ण कर लेता है और बुद्ध बनने की पूर्ण योग्यता रखता है, परंतु वह अपने निर्वाण को एक तुच्छ उपलब्धि समझ कर लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर भविष्य में कभी सम्यकसंबुद्ध बनने का सम्यक संकल्प करता है तो वह अरहंत होने की क्षमता होते हुए भी इस जीवन में अरहंत नहीं बनता। जैसे सुमेध नाम का ब्राह्मण सम्यकसंबुद्ध भगवान दीपंकर के शासनकाल में बुद्ध बनने की योग्यता होने पर भी लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर बुद्ध नहीं बना और कितने ही कल्पों के पश्चात अपनी पारमिताओं को और पुष्ट करते हुए सिद्धार्थ गौतम के नाम से 'सम्यकसंबुद्ध' हुआ।

ऐसे ही बहुत से लोग अपने अमुक-अमुक सद्गुण को खूब बढ़ा कर किसी आगे आने वाले सम्यकसंबुद्ध के शासनकाल में उनके सान्निध्य में मुक्त होने का सम्यक संकल्प करते हैं और वह अवसर आने तक अपने सद्गुण को और अधिक पुष्ट करने में लगे रहते हैं।

यह सब होते हुए भी मुख्य बात यही है कि पूर्वजन्मों में अर्जित पुण्य पारमिताओं का धनी साधक रात-दिन तंद्राविहीन रह निरंतर संप्रज्ञानी बना रह कर मुक्त अवस्था प्राप्त करने के लिए 'सतिपट्ठान' का अभ्यास करता चला जाय और भगवान की प्रज्ञप्ति के प्रति आश्वस्त रहे।

महासतिपट्ठानसुत्त

[३] महासतिपट्ठानसुत्तं – मूल पाठ

एवं मे सुतं – एकं समयं भगवा कुरूसु विहरति कम्मासधम्मं नाम कुरूनं निगमो। तत्र खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि – "भिक्खवो"ति। "भद्दन्ते"ति ते भिक्खू भगवतो पच्चस्सोसुं। भगवा एतदवोच –

उद्देसो

"एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया, सोकपरिदेवानं समतिक्कमाय, दुक्खदोमनस्सानं अत्थङ्गमाय, ञायस्स अधिगमाय, निब्बानस्स सच्छिकिरियाय, यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।

"कतमे चत्तारो? इध, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं।

[उद्देसो निट्ठितो]

महासतिपट्ठानसुत्त – भाषानुवाद

ऐसा मेरे द्वारा सुना गया। एक समय भगवान कुरु प्रदेश में 'कम्मासधम्म' नाम के कुरुओं के निगम में विहार करते थे। वहां भगवान ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया - "हे भिक्षुओ!" उन भिक्षुओं ने भगवान को प्रत्युत्तर दिया - "भदंत!" (इस पर) भगवान ने यह कहा –

उद्देश

"भिक्षुओ! ये जो चार स्मृतिप्रस्थान हैं वे सत्त्वों की विशुद्धि, शोक और क्रंदन का विनाश, दु:ख और दौर्मनस्य का अवसान, सत्य की प्राप्ति (और) निर्वाण का साक्षात्कार – इन सब के लिए अकेला मार्ग है।

"कौन से चार? भिक्षुओ! यहां (कोई) भिक्षु –

(साढ़े तीन हाथ के काया-रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है;

(साढ़े तीन हाथ के काया-रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है;

(साढ़े तीन हाथ के काया-रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है; (और)

(साढ़े तीन हाथ के काया-रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

[उद्देश संपूर्ण]

कायानुपस्सना

आनापानपब्बं

“कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति ? इध, भिक्खवे, भिक्खु अरञ्ञगतो वा रुक्खमूलगतो वा सुञ्ञागारगतो वा निसीदति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा । सो सतोव अस्ससति, सतोव पस्ससति । दीघं वा अस्ससन्तो 'दीघं अस्ससामी'ति पजानाति, दीघं वा पस्ससन्तो 'दीघं पस्ससामी'ति पजानाति । रस्सं वा अस्ससन्तो 'रस्सं अस्ससामी'ति पजानाति, रस्सं वा पस्ससन्तो 'रस्सं पस्ससामी'ति पजानाति । 'सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामी'ति सिक्खति, 'सब्बकायपटिसंवेदी पस्ससिस्सामी'ति सिक्खति । 'पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामी'ति सिक्खति, 'पस्सम्भयं कायसङ्खारं पस्ससिस्सामी'ति सिक्खति ।

“सेय्यथापि, भिक्खवे, दक्खो भमकारो वा भमकारन्तेवासी वा दीघं वा अञ्छन्तो 'दीघं अञ्छामी'ति पजानाति, रस्सं वा अञ्छन्तो 'रस्सं अञ्छामी'ति पजानाति । एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु दीघं वा अस्ससन्तो 'दीघं अस्ससामी'ति पजानाति, दीघं वा पस्ससन्तो 'दीघं पस्ससामी'ति पजानाति, रस्सं वा अस्ससन्तो 'रस्सं अस्ससामी'ति पजानाति, रस्सं वा पस्ससन्तो 'रस्सं पस्ससामी'ति पजानाति । 'सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामी'ति सिक्खति, 'सब्बकायपटिसंवेदी पस्ससिस्सामी'ति सिक्खति, 'पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामी'ति सिक्खति, 'पस्सम्भयं कायसङ्खारं पस्ससिस्सामी'ति सिक्खति । इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति । समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं

कायानुपश्यना

आनापानपर्व

''भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु किस प्रकार काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है? भिक्षुओ! यहां (कोई) भिक्षु अरण्य में, वृक्ष-तले अथवा शून्यागार में जाकर शरीर को सीधा रख, मुख के ऊपरी भाग पर स्मृति प्रतिष्ठापित कर, पालथी मार कर बैठता है। वह स्मृतिमान हो सांस लेता है, स्मृतिमान हो सांस छोड़ता है। वह लंबा सांस लेते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं लंबा सांस लेता हूं, लंबा सांस छोड़ते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं लंबा सांस छोड़ता हूं। वह ओछा सांस लेते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं ओछा सांस लेता हूं, ओछा सांस छोड़ते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं ओछा सांस छोड़ता हूं। वह सीखता है कि मैं सारी काया के प्रति संवेदनशील होकर सांस लूंगा, मैं सारी काया के प्रति संवेदनशील होकर सांस छोड़ूंगा। वह सीखता है कि मैं काया के संस्कार को प्रश्रब्ध (शांत) कर सांस लूंगा, मैं काया के संस्कार को प्रश्रब्ध (शांत) कर सांस छोड़ूंगा।

''जैसे, भिक्षुओ! (कोई) कुशल सुथार (बढ़ई) अथवा उसका शिष्य औजार को लंबा घुमाते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं इसे लंबा घुमा रहा हूं, इसे ओछा घुमाते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं इसे ओछा घुमा रहा हूं, ऐसे ही, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु लंबा सांस लेते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं लंबा सांस लेता हूं, लंबा सांस छोड़ते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं लंबा सांस छोड़ता हूं, ओछा सांस लेते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं ओछा सांस लेता हूं, ओछा सांस छोड़ते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं ओछा सांस छोड़ता हूं; वह सीखता है कि मैं सारी काया के प्रति संवेदनशील होकर सांस लूंगा, मैं सारी काया के प्रति संवेदनशील होकर सांस छोड़ूंगा; वह सीखता है कि मैं काया के संस्कार को प्रश्रब्ध (शांत) कर सांस लूंगा, मैं काया के संस्कार को प्रश्रब्ध (शांत) कर सांस छोड़ूंगा। इस प्रकार भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी

विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति। 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय, पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

(आनापानपब्बं निट्ठितं)

कायानुपस्सना इरियापथपब्बं

''पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु गच्छन्तो वा 'गच्छामी'ति पजानाति, ठितो वा 'ठितोम्ही'ति पजानाति, निसिन्नो वा 'निसिन्नोम्ही'ति पजानाति, सयानो वा 'सयानोम्ही'ति पजानाति, यथा यथा वा पनस्स कायो पणिहितो होति, तथा तथा नं पजानाति।

''इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

(इरियापथपब्बं निट्ठितं)

कायानुपस्सना सम्पजानपब्बं

''पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु अभिक्कन्ते पटिक्कन्ते सम्पजानकारी होति, आलोकिते विलोकिते सम्पजानकारी होति, समिञ्जिते पसारिते सम्पजानकारी होति, सङ्घाटिपत्तचीवरधारणे सम्पजानकारी होति, असिते पीते खायिते सायिते सम्पजानकारी होति,

होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

(आनापानपर्व समाप्त)

कायानुपश्यना – ईर्यापथपर्व

''और फिर भिक्षुओ! (कोई) चलता हुआ भिक्षु भली प्रकार जानता है कि मैं चलता हूं, ठहरा हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं ठहरा हूं, बैठा हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं बैठा हूं (और) लेटा हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं लेटा हूं। जैसे-जैसे उसकी काया अवस्थित होती है, वैसे-वैसे वह उसे भली प्रकार जानता है।

''इस प्रकार वह भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तंक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

(ईर्यापथपर्व समाप्त)

कायानुपश्यना – संप्रज्ञानपर्व

''और फिर भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु आगे बढ़ता है कि पीछे हटता है, तो संप्रज्ञानी होता है; सामने देखता है कि आड़े-तिरछे देखता है, तो संप्रज्ञानी होता है; सिकुड़ता है कि पसारता है, तो संप्रज्ञानी होता है; अपने वस्त्र चीवर, पात्र आदि धारण करता है, तो संप्रज्ञानी होता है; खाते, पीते,

उच्चारपस्सावकम्मे सम्पजानकारी होति, गते ठिते निसिन्ने सुत्ते जागरिते भासिते तुण्हीभावे सम्पजानकारी होति।

"इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

(सम्पजानपब्बं निट्ठितं)

कायानुपस्सना पटिकूलमनसिकारपब्बं

"पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु इममेव कायं, उद्धं पादतला अधो केसमत्थका, तचपरियन्तं पूरं नानप्पकारस्स असुचिनो पच्चवेक्खति – 'अत्थि इमस्मिं काये केसा लोमा नखा दन्ता तचो, मंसं न्हारु अट्ठि अट्ठिमिञ्जं वक्कं, हदयं यकनं किलोमकं पिहकं पप्फासं, अन्तं अन्तगुणं उदरियं करीसं, पित्तं सेम्हं पुब्बो लोहितं सेदो मेदो, अस्सु वसा खेळो सिङ्घाणिका लसिका मुत्त'न्ति।

"सेय्यथापि, भिक्खवे, उभतोमुखा पुतोळि पूरा नानाविहितस्स धञ्ञस्स, सेय्यथिदं सालीनं वीहीनं मुग्गानं मासानं तिलानं तण्डुलानं। तमेनं चक्खुमा पुरिसो मुञ्चित्वा पच्चवेक्खेय्य – 'इमे साली, इमे वीही इमे मुग्गा इमे मासा इमे तिला इमे तण्डुला'ति। एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु इममेव कायं उद्धं पादतला अधो केसमत्थका तचपरियन्तं पूरं नानप्पकारस्स असुचिनो पच्चवेक्खति – 'अत्थि इमस्मिं काये केसा लोमा...पे०... मुत्त'न्ति।

"इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति,

चखते समय संप्रज्ञानी होता है; मल-मूत्र त्यागते समय संप्रज्ञानी होता है; चलते हुए, खड़े हुए, बैठे हुए, सोते हुए, जागते हुए, बोलते हुए, मौन रहते समय संप्रज्ञानी होता है।

''इस प्रकार भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है– 'यह काया है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

(संप्रज्ञानपर्व समाप्त)

कायानुपश्यना – प्रतिकूलमनसिकारपर्व

''और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु इसी काया को पांव के तलवे से ऊपर की ओर और केश वाले सिर से नीचे की ओर, त्वचा-पर्यंत, नाना प्रकार की गंदगियों से भरा हुआ जान विवेचन करता है– 'इस काया में हैं– केश, लोम, नख, दांत, त्वचा, मांस, नसें, हड्डी, मज्जा, गुर्दा, हृदय, यकृत, फुफ्फुसावरण, प्लीहा, फेफड़े, आंत, आंत्रयोजनी, आमाशय, पाखाना, पित्त, कफ, पीब, लहू, पसीना, चर्बी, आंसू, वसा, लार, नाक की सींढ, लसिका (शरीर के जोड़ों को चिकना रखने वाला तरल पदार्थ) (और) मूत्र।'

''जैसे भिक्षुओ! दोनों ओर से खुले हुए मुँह वाली बोरियां चावल, गेहूं, मूंग, माष, तिल, तंडुल आदि नाना प्रकार के अनाज से भरी हों (और) उन्हें खोल कर आंख वाला पुरुष प्रत्यवेक्षण करे– 'ये चावल हैं, यह गेहूं है, ये मूंग हैं, ये माष हैं, ये तिल हैं, ये तंडुल हैं।' ऐसे ही, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु इसी काया को पांव के तलवे से ऊपर की ओर और केश वाले सिर से नीचे की ओर, त्वचा-पर्यंत, नाना प्रकार की गंदगियों से भरा हुआ जान विवेचन करता है– 'इस काया में हैं– केश, लोम,... मूत्र।'

''इस प्रकार वह भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता

समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

(पटिकूलमनसिकारपब्बं निट्ठितं)

कायानुपस्सना धातुमनसिकारपब्बं

''पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु इममेव कायं यथाठितं यथापणिहितं धातुसो पच्चवेक्खति – 'अत्थि इमस्मिं काये पथवीधातु आपोधातु तेजोधातु वायोधातू'ति।

''सेय्यथापि, भिक्खवे, दक्खो गोघातको वा गोघातकन्तेवासी वा गाविं वधित्वा चतुमहापथे बिलसो विभजित्वा निसिन्नो अस्स। एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु इममेव कायं यथाठितं यथापणिहितं धातुसो पच्चवेक्खति – 'अत्थि इमस्मिं काये पथवीधातु आपोधातु तेजोधातु वायोधातू'ति।

''इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

(धातुमनसिकारपब्बं निट्ठितं)

है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

(प्रतिकूलमनसिकारपर्व समाप्त)

कायानुपश्यना – धातुमनसिकारपर्व

''और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु इसी काया को – भले कैसे ही स्थित हो, प्रणिहित हो – धातुओं के अनुसार प्रत्यवेक्षण करता है – 'इस काया में हैं – पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु (और) वायुधातु।'

''जैसे भिक्षुओ! (कोई) निपुण कसाई अथवा उसका शागिर्द गाय को मार कर चौराहे पर (शरीर के टुकड़ों की) अलग-अलग ढेरियां बना कर बैठा हो, ऐसे ही भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु इसी काया को – भले कैसे ही स्थित हो, प्रणिहित हो – धातुओं के अनुसार प्रत्यवेक्षण करता है – 'इस काया में है – पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु (और) वायुधातु।'

''इस प्रकार वह भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

(धातुमनसिकारपर्व समाप्त)

कायानुपस्सना नवसिवथिकपब्बं

''पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु सेय्यथापि पस्सेय्य सरीरं सिवथिकाय छड्डितं – एकाहमतं वा द्वीहमतं वा तीहमतं वा उद्धुमातकं विनीलकं विपुब्बकजातं। सो इममेव कायं उपसंहरति – 'अयम्पि खो कायो एवंधम्मो एवंभावी एवंअनतीतो'ति।

''इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

''पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु सेय्यथापि पस्सेय्य सरीरं सिवथिकाय छड्डितं – काकेहि वा खज्जमानं कुललेहि वा खज्जमानं गिज्झेहि वा खज्जमानं कङ्केहि वा खज्जमानं सुनखेहि वा खज्जमानं ब्यग्घेहि वा खज्जमानं दीपीहि वा खज्जमानं सिङ्गालेहि वा खज्जमानं विविधेहि वा पाणकजातेहि खज्जमानं। सो इममेव कायं उपसंहरति – 'अयम्पि खो कायो एवंधम्मो एवंभावी एवंअनतीतो'ति।

''इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

''पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु सेय्यथापि पस्सेय्य सरीरं सिवथिकाय छड्डितं – अट्ठिकसङ्खलिकं समंसलोहितं न्हारुसम्बन्धं...पे०... अट्ठिकसङ्खलिकं निमंसलोहितमक्खितं न्हारुसम्बन्धं...पे०... अट्ठिकसङ्खलिकं

कायानुपश्यना – नौ प्रकार के श्मशानों का पर्व

''और फिर, भिक्षुओ ! जैसे (कोई) श्मशान में छोड़े हुए एक दिन, या दो दिन, या तीन दिन के फूले हुए, नीले पड़े, पीब चूते (मृत) शरीर को देखे, वह इसी काया से उसकी तुलना करता है – 'वास्तव में यह (मेरी) काया भी इसी स्वभाव वाली है, ऐसे ही होने वाली है और ऐसा होने से बच नहीं सकती है,

''इस प्रकार वह भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है !' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

''और फिर, भिक्षुओ ! जैसे (कोई) भिक्षु श्मशान में छोड़े हुए कौवों, अथवा चीलों, अथवा गिद्धों, अथवा बगुलों, अथवा कुत्तों, अथवा व्याघ्रों, अथवा चीतों, अथवा सियारों, अथवा विविध प्रकार के प्राणियों से खाये जाते हुए (मृत) शरीर को देखे, वह इसी काया से उसकी तुलना करता है – 'वास्तव में यह (मेरी) काया भी इसी स्वभाव वाली है, ऐसे ही होने वाली है और ऐसा होने से बच नहीं सकती है,

''इस प्रकार वह भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है !' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

''और फिर, भिक्षुओ ! जैसे (कोई) भिक्षु श्मशान में छोड़े हुए मांसयुक्त, लहू से सने हुए, नसों से बँधे हुए हड्डी-कंकाल वाले (मृत) शरीर को देखे... मांसरहित, लहू से सने, नसों से बँधे हुए हड्डी-कंकाल वाले (मृत) शरीर को

अपगतमंसलोहितं न्हारुसम्बन्धं...पे०... अट्ठिकानि अपगतसम्बन्धानि दिसा विदिसा विक्खित्तानि, अञ्ञेन हत्थट्ठिकं अञ्ञेन पादट्ठिकं अञ्ञेन गोप्फकट्ठिकं अञ्ञेन जङ्घट्ठिकं अञ्ञेन ऊरुट्ठिकं अञ्ञेन कटिट्ठिकं अञ्ञेन फासुकट्ठिकं अञ्ञेन पिट्ठिट्ठिकं अञ्ञेन खन्धट्ठिकं अञ्ञेन गीवट्ठिकं अञ्ञेन हनुकट्ठिकं अञ्ञेन दन्तट्ठिकं अञ्ञेन सीसकटाहं। सो इममेव कायं उपसंहरति– 'अयम्पि खो कायो एवंधम्मो एवंभावी एवंअनतीतो'ति।

''इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

''पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु सेय्यथापि पस्सेय्य सरीरं सिवथिकाय छड्डितं– अट्ठिकानि सेतानि सङ्खवण्णपटिभागानि...पे०... अट्ठिकानि पुञ्जकितानि तेरोवस्सिकानि...पे०... अट्ठिकानि पूतीनि चुण्णकजातानि। सो इममेव कायं उपसंहरति– 'अयम्पि खो कायो एवंधम्मो एवंभावी एवंअनतीतो'ति।

''इति अज्झत्तं वा काये कायानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा काये कायानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा कायस्मिं विहरति, 'अत्थि कायो'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति।

(नवसिवथिकपब्बं निट्ठितं)

[चुद्दस कायानुपस्सना निट्ठिता।]

देखे... मांस-लहूरहित, नसों से बँधे हुए हड्डी-कंकाल वाले (मृत) शरीर को देखे... बंधनरहित हड्डियों को दिशा-विदिशा में फेंका हुआ देखे – कहीं हाथ की हड्डी है, कहीं पैर की, कहीं टखने की, कहीं जंघा की, कहीं उरू की, कहीं कमर की, कहीं पसली की, कहीं पीठ की, कहीं कंधे की, कहीं गर्दन की, कहीं ठोड़ी की, कहीं दांत की (और) कहीं खोपड़ी की। वह इसी काया से उसकी तुलना करता है – 'वास्तव में यह (मेरी) काया भी इसी स्वभाव वाली है, ऐसे ही होने वाली है और ऐसा होने से बच नहीं सकती है,

''इस प्रकार वह भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

''और फिर, भिक्षुओ! जैसे (कोई) भिक्षु ऐसे (मृत) शरीर को श्मशान में छोड़ा हुआ देखे जिसकी हड्डियां शंख के समान श्वेत वर्ण वाली हो गयी हों... जिसकी वर्षों पुरानी हड्डियों का ढेर लग गया हो... जिसकी सड़ी हुई हड्डियां चूर्ण बन गई हों...। वह इसी काया से उसकी तुलना करता है – 'वास्तव में यह (मेरी) काया भी इसी स्वभाव वाली है, ऐसे ही होने वाली है और ऐसा होने से बच नहीं सकती है,

''इस प्रकार वह भीतर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर काया में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह काया है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है।

(नवसिवथिकपर्व समाप्त)

[चौदह प्रकार की कायानुपश्यना संपूर्ण]

वेदनानुपस्सना

"कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति ? इध, भिक्खवे, भिक्खु सुखं वा वेदनं वेदयमानो 'सुखं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति। दुक्खं वा वेदनं वेदयमानो 'दुक्खं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति। अदुक्खमसुखं वा वेदनं वेदयमानो 'अदुक्खमसुखं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति। सामिसं वा सुखं वेदनं वेदयमानो 'सामिसं सुखं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति। निरामिसं वा सुखं वेदनं वेदयमानो 'निरामिसं सुखं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति; सामिसं वा दुक्खं वेदनं वेदयमानो 'सामिसं दुक्खं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति, निरामिसं वा दुक्खं वेदनं वेदयमानो 'निरामिसं दुक्खं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति; सामिसं वा अदुक्खमसुखं वेदनं वेदयमानो 'सामिसं अदुक्खमसुखं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति, निरामिसं वा अदुक्खमसुखं वेदनं वेदयमानो 'निरामिसं अदुक्खमसुखं वेदनं वेदयामी'ति पजानाति।

"इति अज्झत्तं वा वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा वेदनासु विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा वेदनासु विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा वेदनासु विहरति, 'अत्थि वेदना'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति।

[वेदनानुपस्सना निट्ठिता]

वेदनानुपश्यना

''और फिर, भिक्षुओ ! (कोई) भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है ? यहां, भिक्षुओ ! (कोई) भिक्षु सुखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं सुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा दुःखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं दुःखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा सामिष (अशुद्ध) सुखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं सामिष सुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा निरामिष (शुद्ध) सुखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं निरामिष सुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा सामिष दुःखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं सामिष दुःखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा निरामिष दुःखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं निरामिष दुःखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा सामिष अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं सामिष अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं; अथवा निरामिष अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं निरामिष अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव कर रहा हूं।

''इस प्रकार भीतर की ओर वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर वेदनाओं में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर वेदनाओं में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर वेदनाओं में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है– 'यह वेदना है !' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहार करता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ ! इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है।

[वेदनानुपश्यना संपूर्ण]

चित्तानुपस्सना

"कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति ? इध, भिक्खवे, भिक्खु सरागं वा चित्तं 'सरागं चित्त'न्ति पजानाति। वीतरागं वा चित्तं 'वीतरागं चित्त'न्ति पजानाति। सदोसं वा चित्तं 'सदोसं चित्त'न्ति पजानाति, वीतदोसं वा चित्तं 'वीतदोसं चित्त'न्ति पजानाति। समोहं वा चित्तं 'समोहं चित्त'न्ति पजानाति, वीतमोहं वा चित्तं 'वीतमोहं चित्त'न्ति पजानाति। सङ्खित्तं वा चित्तं 'सङ्खित्तं चित्त'न्ति पजानाति, विक्खित्तं वा चित्तं 'विक्खित्तं चित्त'न्ति पजानाति। महग्गतं वा चित्तं 'महग्गतं चित्त'न्ति पजानाति, अमहग्गतं वा चित्तं 'अमहग्गतं चित्त'न्ति पजानाति। सउत्तरं वा चित्तं 'सउत्तरं चित्त'न्ति पजानाति, अनुत्तरं वा चित्तं 'अनुत्तरं चित्त'न्ति पजानाति। समाहितं वा चित्तं 'समाहितं चित्त'न्ति पजानाति, असमाहितं वा चित्तं 'असमाहितं चित्त'न्ति पजानाति। विमुत्तं वा चित्तं 'विमुत्तं चित्त'न्ति पजानाति। अविमुत्तं वा चित्तं 'अविमुत्तं चित्त'न्ति पजानाति।

"इति अज्झत्तं वा चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा चित्तस्मिं विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा चित्तस्मिं विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा चित्तस्मिं विहरति। 'अत्थि चित्त'न्ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति।

[चित्तानुपस्सना निट्ठिता]

चित्तानुपश्यना

"और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है? भिक्षुओ! यहां (कोई) भिक्षु चित्त रागयुक्त होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त रागयुक्त है; अथवा, चित्त वीतराग होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त वीतराग है; अथवा, चित्त द्वेषयुक्त होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त द्वेषयुक्त है; अथवा, चित्त वीतद्वेष होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त वीतद्वेष है; अथवा, चित्त मोहयुक्त होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त मोहयुक्त है; अथवा, चित्त वीतमोह होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त वीतमोह है; अथवा, चित्त संक्षिप्त होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त संक्षिप्त है; अथवा, चित्त विक्षिप्त होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त विक्षिप्त है; अथवा, चित्त महग्गत होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त महग्गत है; अथवा, चित्त अ-महग्गत होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त अ-महग्गत है; अथवा, चित्त स-उत्तर होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त स-उत्तर है; अथवा, चित्त अनुत्तर होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त अनुत्तर है; अथवा, चित्त समाहित होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त समाहित है; अथवा, चित्त अ-समाहित होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त अ-समाहित है; अथवा, चित्त विमुक्त होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त विमुक्त है; अथवा, चित्त अ-विमुक्त होने पर भली प्रकार जानता है कि चित्त अ-विमुक्त है।

"इस प्रकार भीतर की ओर चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर चित्त में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर चित्त में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर चित्त में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह चित्त है!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है।

[चित्तानुपश्यना संपूर्ण]

धम्मानुपस्सना नीवरणपब्बं

"कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति ? इध, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति पञ्चसु नीवरणेसु । कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति – पञ्चसु नीवरणेसु ?

"इध, भिक्खवे, भिक्खु सन्तं वा अज्झत्तं कामच्छन्दं 'अत्थि मे अज्झत्तं कामच्छन्दो'ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं कामच्छन्दं 'नत्थि मे अज्झत्तं कामच्छन्दो'ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स कामच्छन्दस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स कामच्छन्दस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स कामच्छन्दस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

"सन्तं वा अज्झत्तं ब्यापादं 'अत्थि मे अज्झत्तं ब्यापादो'ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं ब्यापादं 'नत्थि मे अज्झत्तं ब्यापादो'ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स ब्यापादस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स ब्यापादस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स ब्यापादस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

"सन्तं वा अज्झत्तं थिनमिद्धं 'अत्थि मे अज्झत्तं थिनमिद्ध'न्ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं थिनमिद्धं 'नत्थि मे अज्झत्तं थिनमिद्ध'न्ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स थिनमिद्धस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स थिनमिद्धस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स थिनमिद्धस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

"सन्तं वा अज्झत्तं उद्धच्चकुक्कुच्चं 'अत्थि मे अज्झत्तं उद्धच्चकुक्कुच्च'न्ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं उद्धच्चकुक्कुच्चं 'नत्थि मे अज्झत्तं उद्धच्चकुक्कुच्च'न्ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स उद्धच्चकुक्कुच्चस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स उद्धच्चकुक्कुच्चस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स उद्धच्चकुक्कुच्चस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

धर्मानुपश्यना – नीवरणपर्व

"और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है? यहां, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु पांच नीवरण धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है। और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु पांच नीवरण धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है?

"यहां, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु भीतर कामच्छंद होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर कामच्छंद है'; अथवा, भीतर कामच्छंद न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर कामच्छंद नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न कामच्छंद की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए कामच्छंद का प्रहाण (विनाश) होता है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे विनष्ट हुए कामच्छंद की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, उसे भली प्रकार जानता है।

"अथवा, भीतर व्यापाद (द्रोह) होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर व्यापाद है'; अथवा, भीतर व्यापाद न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर व्यापाद नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न व्यापाद की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए व्यापाद का प्रहाण (विनाश) होता है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे विनष्ट हुए व्यापाद की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, उसे भली प्रकार जानता है।

"अथवा, भीतर स्त्यानमृद्ध (तन-मन का आलस) होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर स्त्यानमृद्ध है'; अथवा, भीतर स्त्यानमृद्ध न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर स्त्यानमृद्ध नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न स्त्यानमृद्ध की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए स्त्यानमृद्ध का प्रहाण (विनाश) होता है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे विनष्ट हुए स्त्यानमृद्ध की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, उसे भली प्रकार जानता है।

"अथवा, भीतर औद्धत्य-कौकृत्य (उद्वेग-खेद) होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर औद्धत्य-कौकृत्य है'; अथवा, भीतर औद्धत्य-कौकृत्य न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर औद्धत्य-कौकृत्य नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न औद्धत्य-कौकृत्य की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए औद्धत्य-कौकृत्य का प्रहाण (विनाश) होता है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे विनष्ट हुए औद्धत्य-कौकृत्य की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, उसे भली प्रकार जानता है।

“सन्तं वा अज्झत्तं विचिकिच्छं ‘अत्थि मे अज्झत्तं विचिकिच्छा’ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं विचिकिच्छं ‘नत्थि मे अज्झत्तं विचिकिच्छा’ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नाय विचिकिच्छाय उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नाय विचिकिच्छाय पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनाय विचिकिच्छाय आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति।

“इति अज्झत्तं वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति। ‘अत्थि धम्मा’ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति पञ्चसु नीवरणेसु।

(नीवरणपब्बं निट्ठितं)

धम्मानुपस्सना खन्धपब्बं

“पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति पञ्चसु उपादानक्खन्धेसु। कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति पञ्चसु उपादानक्खन्धेसु? इध, भिक्खवे, भिक्खु – ‘इति रूपं, इति रूपस्स समुदयो, इति रूपस्स अत्थङ्गमो; इति वेदना, इति वेदनाय समुदयो, इति वेदनाय अत्थङ्गमो; इति सञ्ञा, इति सञ्ञाय समुदयो, इति सञ्ञाय अत्थङ्गमो; इति सङ्खारा, इति सङ्खारानं समुदयो, इति सङ्खारानं अत्थङ्गमो; इति विञ्ञाणं, इति विञ्ञाणस्स समुदयो, इति विञ्ञाणस्स अत्थङ्गमो’ति।

''अथवा, भीतर विचिकित्सा (संदेह) होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर विचिकित्सा है'; अथवा, भीतर विचिकित्सा न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर विचिकित्सा नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न विचिकित्सा की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुई विचिकित्सा का प्रहाण (विनाश) होता है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे विनष्ट हुई विचिकित्सा की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, उसे भली प्रकार जानता है।

''इस प्रकार भीतर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर धर्मों मे विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह धर्म हैं!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है, तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु पांच नीवरणों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

(नीवरणपर्व समाप्त)

धर्मानुपश्यना – स्कंधपर्व

''और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु पांच उपादान-स्कंध धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है। और भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु पांच उपादान-स्कंध धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है? यहां, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु (अनुभव करता है) – 'यह रूप है, यह रूप का समुदय है, यह रूप का अस्त हो जाना है; यह वेदना है, यह वेदना का समुदय है, यह वेदना का अस्त हो जाना है; यह संज्ञा है, यह संज्ञा का समुदय है, यह संज्ञा का अस्त हो जाना है; यह संस्कार हैं, यह संस्कारों का समुदय है, यह संस्कारों का अस्त हो जाना है; यह विज्ञान है, यह विज्ञान का समुदय है, यह विज्ञान का अस्त हो जाना है।'

"इति अज्झत्तं वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति। 'अत्थि धम्मा'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति पञ्चसु उपादानक्खन्धेसु।

(खन्धपब्बं निट्ठितं)

धम्मानुपस्सना आयतनपब्बं

"पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति छसु अज्झत्तिकबाहिरेसु आयतनेसु। कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति छसु अज्झत्तिकबाहिरेसु आयतनेसु?

"इध, भिक्खवे, भिक्खु चक्खुञ्च पजानाति, रूपे च पजानाति, यञ्च तदुभयं पटिच्च उप्पज्जति संयोजनं तञ्च पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स संयोजनस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स संयोजनस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स संयोजनस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति।

"सोतञ्च पजानाति, सद्दे च पजानाति, यञ्च तदुभयं पटिच्च उप्पज्जति संयोजनं तञ्च पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स संयोजनस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स संयोजनस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स संयोजनस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति।

"घानञ्च पजानाति, गन्धे च पजानाति, यञ्च तदुभयं पटिच्च उप्पज्जति संयोजनं तञ्च पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स संयोजनस्स

"इस प्रकार भीतर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर-भीतर (सर्वत्र) धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह धर्म हैं!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु पांच उपादान-स्कंध धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

(स्कंधपर्व समाप्त)

धर्मानुपश्यना – आयतनपर्व

"और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु छः भीतरी-बाहरी आयतन धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है। और भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु छः भीतरी-बाहरी आयतन धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है?

"यहां, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु चक्षु को भली प्रकार जानता है, रूपों को भली प्रकार जानता है, इन दोनों (चक्षु और रूप) के प्रत्यय (हेतु) से जो संयोजन (बंधन) उत्पन्न होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे अनुत्पन्न संयोजन की उत्पत्ति होती है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे उत्पन्न हुए संयोजन का प्रहाण (विनाश) होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे विनष्ट हुए संयोजन की आगे उत्पत्ति नहीं होती है उसे भली प्रकार जानता है।

"(वह) श्रोत्र को भली प्रकार जानता है, शब्दों को भली प्रकार जानता है, इन दोनों (श्रोत्र और शब्द) के प्रत्यय (हेतु) से जो संयोजन (बंधन) उत्पन्न होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे अनुत्पन्न संयोजन की उत्पत्ति होती है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे उत्पन्न हुए संयोजन का प्रहाण (विनाश) होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे विनष्ट हुए संयोजन की आगे उत्पत्ति नहीं होती है उसे भली प्रकार जानता है।

"(वह) घ्राण को भली प्रकार जानता है, गंधों को भली प्रकार जानता है, इन दोनों (घ्राण और गंध) के प्रत्यय (हेतु) से जो संयोजन (बंधन) उत्पन्न

उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स संयोजनस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स संयोजनस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

"जिव्हञ्च पजानाति, रसे च पजानाति, यञ्च तदुभयं पटिच्च उप्पज्जति संयोजनं तञ्च पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स संयोजनस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स संयोजनस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स संयोजनस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

"कायञ्च पजानाति, फोट्ठब्बे च पजानाति, यञ्च तदुभयं पटिच्च उप्पज्जति संयोजनं तञ्च पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स संयोजनस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स संयोजनस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स संयोजनस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

"मनञ्च पजानाति, धम्मे च पजानाति, यञ्च तदुभयं पटिच्च उप्पज्जति संयोजनं तञ्च पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स संयोजनस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स संयोजनस्स पहानं होति तञ्च पजानाति, यथा च पहीनस्स संयोजनस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति ।

"इति अज्झत्तं वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति । समुदयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति । 'अत्थि धम्मा'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति । यावदेव आणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति । एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति छसु अज्झत्तिकबाहिरेसु आयतनेसु ।

(आयतनपब्बं निट्ठितं)

होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे अनुत्पन्न संयोजन की उत्पत्ति होती है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे उत्पन्न हुए संयोजन का प्रहाण (विनाश) होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे विनष्ट हुए संयोजन की आगे उत्पत्ति नहीं होती है उसे भली प्रकार जानता है।

"(वह) जिह्वा को भली प्रकार जानता है, रसों को भली प्रकार जानता है, इन दोनों (जिह्वा और रस) के प्रत्यय (हेतु) से जो संयोजन (बंधन) उत्पन्न होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे अनुत्पन्न संयोजन की उत्पत्ति होती है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे उत्पन्न हुए संयोजन का प्रहाण (विनाश) होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे विनष्ट हुए संयोजन की आगे उत्पत्ति नहीं होती है उसे भली प्रकार जानता है।

"(वह) काय (त्वक इंद्रिय) को भली प्रकार जानता है, स्प्रष्टव्यों (ठंडा, गर्म, आदि) को भली प्रकार जानता है, इन दोनों (काय और स्प्रष्टव्य) के प्रत्यय (हेतु) से जो संयोजन (बंधन) उत्पन्न होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे अनुत्पन्न संयोजन की उत्पत्ति होती है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे उत्पन्न हुए संयोजन का प्रहाण (विनाश) होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे विनष्ट हुए संयोजन की आगे उत्पत्ति नहीं होती है उसे भली प्रकार जानता है।

"(वह) मन को भली प्रकार जानता है, धर्मों को भली प्रकार जानता है, इन दोनों (मन और धर्म) के प्रत्यय (हेतु) से जो संयोजन (बंधन) उत्पन्न होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे अनुत्पन्न संयोजन की उत्पत्ति होती है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे उत्पन्न हुए संयोजन का प्रहाण (विनाश) होता है उसे भली प्रकार जानता है, और जैसे विनष्ट हुए संयोजन की आगे उत्पत्ति नहीं होती है उसे भली प्रकार जानता है।

"इस प्रकार भीतर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा उसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है– 'यह धर्म हैं!' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु छः भीतरी-बाहरी आयतन धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

(आयतनपर्व समाप्त)

धम्मानुपस्सना बोज्झङ्गपब्बं

“पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति सत्तसु बोज्झङ्गेसु। कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति सत्तसु बोज्झङ्गेसु? इध, भिक्खवे, भिक्खु सन्तं वा अज्झत्तं सतिसम्बोज्झङ्गं ‘अत्थि मे अज्झत्तं सतिसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं सतिसम्बोज्झङ्गं ‘नत्थि मे अज्झत्तं सतिसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स सतिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स सतिसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय पारिपूरी होति तञ्च पजानाति।

“सन्तं वा अज्झत्तं धम्मविचयसम्बोज्झङ्गं ‘अत्थि मे अज्झत्तं धम्मविचयसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं धम्मविचयसम्बोज्झङ्गं ‘नत्थि मे अज्झत्तं धम्मविचयसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय पारिपूरी होति तञ्च पजानाति।

“सन्तं वा अज्झत्तं वीरियसम्बोज्झङ्गं ‘अत्थि मे अज्झत्तं वीरियसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं वीरियसम्बोज्झङ्गं ‘नत्थि मे अज्झत्तं वीरियसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स वीरियसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स वीरियसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय पारिपूरी होति तञ्च पजानाति।

“सन्तं वा अज्झत्तं पीतिसम्बोज्झङ्गं ‘अत्थि मे अज्झत्तं पीतिसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं पीतिसम्बोज्झङ्गं ‘नत्थि मे अज्झत्तं पीतिसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स पीतिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स पीतिसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय पारिपूरी होति तञ्च पजानाति।

“सन्तं वा अज्झत्तं पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गं ‘अत्थि मे अज्झत्तं पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गं ‘नत्थि मे अज्झत्तं पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गो’ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय पारिपूरी होति तञ्च पजानाति।

धर्मानुपश्यना – बोध्यंगपर्व

"और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु सात बोध्यंग धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है। और भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु सात बोध्यंग धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है? यहां, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु भीतर स्मृति-संबोध्यंग होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर स्मृति-संबोध्यंग है'; अथवा, भीतर स्मृति-संबोध्यंग न होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर स्मृति-संबोध्यंग नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न स्मृति-संबोध्यंग की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए स्मृति-संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है, उसे भी भली प्रकार जानता है।

"(वह) भीतर धर्मविचय-संबोध्यंग होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर धर्मविचय-संबोध्यंग है'; अथवा, भीतर धर्मविचय-संबोध्यंग न होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर धर्मविचय-संबोध्यंग नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न धर्मविचय-संबोध्यंग की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए धर्मविचय-संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है, उसे भी भली प्रकार जानता है।

"(वह) भीतर वीर्य-संबोध्यंग होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर वीर्य-संबोध्यंग है'; अथवा, भीतर वीर्य-संबोध्यंग न होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर वीर्य-संबोध्यंग नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न वीर्य-संबोध्यंग की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए वीर्य-संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है, उसे भी भली प्रकार जानता है।

"(वह) भीतर प्रीति-संबोध्यंग होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर प्रीति-संबोध्यंग है'; अथवा, भीतर प्रीति-संबोध्यंग न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर प्रीति-संबोध्यंग नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न प्रीति-संबोध्यंग की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए प्रीति-संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है, उसे भी भली प्रकार जानता है।

"(वह) भीतर प्रश्रब्धि-संबोध्यंग होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर प्रश्रब्धि-संबोध्यंग है'; अथवा, भीतर प्रश्रब्धि-संबोध्यंग न होने पर भली प्रकार जानता है– 'मेरे भीतर प्रश्रब्धि-संबोध्यंग नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न प्रश्रब्धि-संबोध्यंग की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए प्रश्रब्धि-संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है, उसे भी भली प्रकार जानता है।

"सन्तं वा अज्झत्तं समाधिसम्बोज्झङ्गं 'अत्थि मे अज्झत्तं समाधिसम्बोज्झङ्गो'ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं समाधिसम्बोज्झङ्गं 'नत्थि मे अज्झत्तं समाधिसम्बोज्झङ्गो'ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स समाधिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स समाधिसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय पारिपूरी होति तञ्च पजानाति।

"सन्तं वा अज्झत्तं उपेक्खासम्बोज्झङ्गं 'अत्थि मे अज्झत्तं उपेक्खासम्बोज्झङ्गो'ति पजानाति, असन्तं वा अज्झत्तं उपेक्खासम्बोज्झङ्गं 'नत्थि मे अज्झत्तं उपेक्खासम्बोज्झङ्गो'ति पजानाति, यथा च अनुप्पन्नस्स उपेक्खासम्बोज्झङ्गस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति, यथा च उप्पन्नस्स उपेक्खासम्बोज्झङ्गस्स भावनाय पारिपूरी होति तञ्च पजानाति।

"इति अज्झत्तं वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति। 'अत्थि धम्मा'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति सत्तसु बोज्झङ्गेसु।

(बोज्झङ्गपब्बं निट्ठितं)

धम्मानुपस्सना सच्चपब्बं

"पुन चपरं, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति चतूसु अरियसच्चेसु। कथञ्च पन, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति चतूसु अरियसच्चेसु? इध, भिक्खवे, भिक्खु 'इदं दुक्ख'न्ति यथाभूतं पजानाति, 'अयं दुक्खसमुदयो'ति यथाभूतं पजानाति, 'अयं दुक्खनिरोधो'ति यथाभूतं पजानाति, 'अयं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा'ति यथाभूतं पजानाति।

"(वह) भीतर समाधि-संबोध्यंग होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर समाधि-संबोध्यंग है'; अथवा, भीतर समाधि-संबोध्यंग न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर समाधि-संबोध्यंग नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न समाधि-संबोध्यंग की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए समाधि-संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है, उसे भी भली प्रकार जानता है।

"(वह) भीतर उपेक्षा-संबोध्यंग होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर उपेक्षा-संबोध्यंग है'; अथवा, भीतर उपेक्षा-संबोध्यंग न होने पर भली प्रकार जानता है – 'मेरे भीतर उपेक्षा-संबोध्यंग नहीं है'; और जैसे अनुत्पन्न उपेक्षा-संबोध्यंग की उत्पत्ति होती है, उसे भली प्रकार जानता है; और जैसे उत्पन्न हुए उपेक्षा-संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है, उसे भी भली प्रकार जानता है।

"इस प्रकार भीतर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह धर्म हैं! जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु सात बोध्यंग धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

(बोध्यंगपर्व समाप्त)

धर्मानुपश्यना – सत्यपर्व

"और फिर, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु चार आर्यसत्य धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है। और भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु चार आर्यसत्य धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर कैसे विहार करता है? यहां, भिक्षुओ! (कोई) भिक्षु 'यह दुःख है' – इसे यथाभूत भली प्रकार जानता है; 'यह दुःख का समुदय है' – इसे यथाभूत भली प्रकार जानता है; 'यह दुःख का निरोध है' – इसे यथाभूत भली प्रकार जानता है; 'यह दुःख-निरोध का उपाय है' – इसे यथाभूत भली प्रकार जानता है।

दुक्खसच्चनिद्देसो

"कतमञ्च, भिक्खवे, दुक्खं अरियसच्चं ? जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगोपि दुक्खो, पियेहि विप्पयोगोपि दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा।

"कतमा च, भिक्खवे, जाति ? या तेसं तेसं सत्तानं तम्हि तम्हि सत्तनिकाये जाति सञ्जाति ओक्कन्ति अभिनिब्बत्ति खन्धानं पातुभावो आयतनानं पटिलाभो, अयं वुच्चति, भिक्खवे, जाति।

"कतमा च, भिक्खवे, जरा ? या तेसं तेसं सत्तानं तम्हि तम्हि सत्तनिकाये जरा जीरणता खण्डिच्चं पालिच्चं वलित्तचता आयुनो संहानि इन्द्रियानं परिपाको, अयं वुच्चति, भिक्खवे, जरा।

"कतमञ्च, भिक्खवे, मरणं ? यं तेसं तेसं सत्तानं तम्हा तम्हा सत्तनिकाया चुति चवनता भेदो अन्तरधानं मच्चु मरणं कालकिरिया खन्धानं भेदो कळेवरस्स निक्खेपो जीवितिन्द्रियस्सुपच्छेदो, इदं वुच्चति, भिक्खवे, मरणं।

"कतमो च, भिक्खवे, सोको ? यो खो, भिक्खवे, अञ्ञतरञ्ञतरेन ब्यसनेन समन्नागतस्स अञ्ञतरञ्ञतरेन दुक्खधम्मेन फुट्ठस्स सोको सोचना सोचितत्तं अन्तोसोको अन्तोपरिसोको, अयं वुच्चति, भिक्खवे, सोको।

"कतमो च, भिक्खवे, परिदेवो ? यो खो, भिक्खवे, अञ्ञतरञ्ञतरेन ब्यसनेन समन्नागतस्स अञ्ञतरञ्ञतरेन दुक्खधम्मेन फुट्ठस्स आदेवो परिदेवो आदेवना परिदेवना आदेवितत्तं परिदेवितत्तं, अयं वुच्चति, भिक्खवे, परिदेवो।

"कतमञ्च, भिक्खवे, दुक्खं ? यं खो, भिक्खवे, कायिकं दुक्खं कायिकं असातं कायसम्फस्सजं दुक्खं असातं वेदयितं, इदं वुच्चति, भिक्खवे, दुक्खं।

"कतमञ्च, भिक्खवे, दोमनस्सं ? यं खो, भिक्खवे, चेतसिकं दुक्खं चेतसिकं असातं मनोसम्फस्सजं दुक्खं असातं वेदयितं, इदं वुच्चति, भिक्खवे, दोमनस्सं।

दुःखसत्य-संबंधी निर्देश

''और भिक्षुओ ! क्या होता है दु:ख आर्यसत्य ? जन्म भी दु:ख है; बुढ़ापा भी दु:ख है; व्याधि भी दु:ख है; मरण भी दु:ख है; शोक, क्रंदन, दु:ख, दौर्मनस्य, उपायास भी दु:ख हैं; अप्रियों से संयोग भी दु:ख है; प्रियों से वियोग भी दु:ख है; अभीप्सित का न मिलना भी दु:ख है; संक्षेप में, पांचों उपादान-स्कंध ही दु:ख हैं।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है जन्म ? उन-उन प्राणियों का उन-उन सत्त्वनिकायों (योनियों) मे जन्म, उत्पत्ति, अवक्रमण, अभिनिर्वर्तन, स्कंधों का प्रादुर्भाव, आयतनों का प्रतिलाभ – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है जन्म।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है बुढ़ापा ? उन-उन प्राणियों का उन-उन सत्त्वनिकायों (योनियों) में बूढ़ा होना, जीर्ण होना, (दांत) टूटना, (सिर) सफेद होना, (गात्र पर) झुर्रियां पड़ना, आयु की हानि, इंद्रियों का परिपाक – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है बुढ़ापा।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है मरण ? उन-उन प्राणियों की उन-उन सत्त्वनिकायों (योनियों) से च्युति, च्यवनता, अलगाव, अंतर्धान होना, मृत्यु, मरण, काल करना, स्कंधों का अलगाव, कलेवर का छूटना, जीवन का विच्छेद – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है मरण।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है शोक ? भिक्षुओ ! उस-उस व्यसन से युक्त, उस-उस दु:ख से पीड़ित (व्यक्ति) का शोक, शोचना, शोचितत्त्व, आंतरिक शोक, आंतरिक परिशोक – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है शोक।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है परिदेव (क्रंदन) ? भिक्षुओ ! उस-उस व्यसन से युक्त, उस-उस दु:ख से पीड़ित (व्यक्ति) का आदेव, परिदेव, आदेवन, परिदेवन, आदेवितत्व, परिदेवितत्व – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है परिदेव।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है दु:ख ? भिक्षुओ ! शारीरिक दु:ख, शारीरिक पीड़ा, काया के संस्पर्श से होने वाला दु:ख, कष्ट, वेदयित (अनुभव) – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है दु:ख।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है दौर्मनस्य ? चैतसिक दु:ख, चैतसिक कष्ट, मन के संस्पर्श से होने वाला दु:ख, कष्ट, वेदयित (अनुभव) – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है दौर्मनस्य।

"कतमो च, भिक्खवे, उपायासो? यो खो, भिक्खवे, अञ्ञतरञ्ञतरेन ब्यसनेन समन्नागतस्स अञ्ञतरञ्ञतरेन दुक्खधम्मेन फुट्ठस्स आयासो उपायासो आयासितत्तं उपायासितत्तं, अयं वुच्चति, भिक्खवे, उपायासो।

"कतमो च, भिक्खवे, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो? इध यस्स ते होन्ति अनिट्ठा अकन्ता अमनापा रूपा सद्दा गन्धा रसा फोट्ठब्बा धम्मा, ये वा पनस्स ते होन्ति अनत्थकामा अहितकामा अफासुककामा अयोगक्खेमकामा, या तेहि सद्धिं सङ्गति समागमो समोधानं मिस्सीभावो; अयं वुच्चति, भिक्खवे, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो।

"कतमो च, भिक्खवे, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो? इध यस्स ते होन्ति इट्ठा कन्ता मनापा रूपा सद्दा गन्धा रसा फोट्ठब्बा धम्मा, ये वा पनस्स ते होन्ति अत्थकामा हितकामा फासुककामा योगक्खेमकामा माता वा पिता वा भाता वा भगिनी वा मित्ता वा अमच्चा वा ञातिसालोहिता वा, या तेहि सद्धिं असङ्गति असमागमो असमोधानं अमिस्सीभावो, अयं वुच्चति, भिक्खवे, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो।

"कतमञ्च, भिक्खवे, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं? जातिधम्मानं, भिक्खवे, सत्तानं एवं इच्छा उप्पज्जति 'अहो वत मयं न जातिधम्मा अस्साम, न च वत नो जाति आगच्छेय्या'ति। न खो पनेतं इच्छाय पत्तब्बं, इदम्पि यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं। जराधम्मानं, भिक्खवे, सत्तानं एवं इच्छा उप्पज्जति – 'अहो वत मयं न जराधम्मा अस्साम, न च वत नो जरा आगच्छेय्या'ति। न खो पनेतं इच्छाय पत्तब्बं, इदम्पि यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं। ब्याधिधम्मानं, भिक्खवे, सत्तानं एवं इच्छा उप्पज्जति – 'अहो वत मयं न ब्याधिधम्मा अस्साम, न च वत नो ब्याधि आगच्छेय्या'ति। न खो पनेतं इच्छाय पत्तब्बं, इदम्पि यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं। मरणधम्मानं, भिक्खवे, सत्तानं एवं इच्छा उप्पज्जति – 'अहो वत मयं न मरणधम्मा अस्साम, न च वत नो मरणं आगच्छेय्या'ति। न खो पनेतं इच्छाय पत्तब्बं, इदम्पि यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं। सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सुपायासधम्मानं, भिक्खवे, सत्तानं एवं इच्छा उप्पज्जति – 'अहो वत मयं न सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सुपायासधम्मा अस्साम, न च वत नो सोक-परिदेव-दुक्ख-

"और भिक्षुओ ! क्या होता है उपायास ? भिक्षुओ ! उस-उस व्यसन से युक्त, उस-उस दुःख से पीड़ित (व्यक्ति) का आयास, उपायास, आयासितत्व, उपायासितत्व – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है उपायास।

"और भिक्षुओ ! क्या होता है 'अप्रियों से संयोग दुःख' ? यहां जिस (व्यक्ति) के अनिच्छित, अकांत, अमनाप जो रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य (तथा) धर्म होते हैं, या जो उसके अनर्थ चाहने वाले, अहित चाहने वाले, असुविधा चाहने वाले, अमंगल चाहने वाले (व्यक्ति) हैं, उनके साथ जो संगति, समागम, समवधान, मिश्रण होता है – वह, भिक्षुओ ! कहलाता है 'अप्रियों से संयोग दुःख'।

"और भिक्षुओ ! क्या होता है 'प्रियों से वियोग दुःख' ? यहां जिस (व्यक्ति) के इच्छित, कांत, मनाप जो रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य (और) धर्म होते हैं, या जो उसके अर्थ चाहने वाले, हित चाहने वाले, सुविधा चाहने वाले, मंगल चाहने वाले माता, पिता, भाई, बहिन, मित्र, अमात्य अथवा जाति रक्तसंबंधी हैं, उनके साथ जो असंगति, असमागम, असमवधान, अमिश्रण होता है – वह, भिक्षुओ ! कहलाता है 'प्रियों से वियोग दुःख'।

"और भिक्षुओ ! क्या होता है 'इच्छित वस्तु का न मिलना भी दुःख' ? भिक्षुओ ! जन्मने के स्वभाव वाले प्राणियों को ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है – 'अहो ! हम जन्म स्वभाव वाले न होते, हमारे लिए जन्म न आता'; किंतु यह इच्छा करने से मिलने वाला नहीं है। यह भी है 'इच्छित (वस्तु) का न मिलना भी दुःख'। भिक्षुओ ! जरा-स्वभाव वाले प्राणियों को ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है – 'अहो ! हम जरा-स्वभाव वाले न होते, हमारे लिए जरा न आती'; किंतु यह इच्छा करने से मिलने वाला नहीं है। यह भी है 'इच्छित (वस्तु) का न मिलना भी दुःख'। भिक्षुओ ! व्याधि स्वभाव वाले प्राणियों को ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है – 'अहो ! हम व्याधि स्वभाव वाले न होते, हमारे लिए व्याधि न आती'; किंतु यह इच्छा करने से मिलने वाला नहीं है। यह भी है 'इच्छित (वस्तु) का न मिलना भी दुःख'। भिक्षुओ ! मरण स्वभाव वाले प्राणियों को ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है – 'अहो ! हम मरण स्वभाव वाले न होते, हमारे लिए मरण न आता'; किंतु यह इच्छा करने से मिलने वाला नहीं है। भिक्षुओ ! शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास स्वभाव वाले प्राणियों को ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है – 'अहो ! हम शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास स्वभाव वाले न होते, हमारे लिए शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास न आते'; किंतु यह इच्छा करने से मिलने वाला नहीं है। यह भी है 'इच्छित (वस्तु) का न मिलना भी दुःख'।

दोमनस्सुपायास-धम्मा आगच्छेय्यु'न्ति । न खो पनेतं इच्छाय पत्तब्बं, इदम्पि यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं ।

"कतमे च, भिक्खवे, सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा ? सेय्यथिदं – रूपुपादानक्खन्धो, वेदनुपादानक्खन्धो, सञ्ञुपादानक्खन्धो, सङ्खारुपादानक्खन्धो, विञ्ञाणुपादानक्खन्धो । इमे वुच्चन्ति, भिक्खवे, सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा ।

"इदं वुच्चति, भिक्खवे, दुक्खं अरियसच्चं ।

समुदयसच्चनिद्देसो

"कतमञ्च, भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं ? यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दीरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी, सेय्यथिदं – कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा ।

"सा खो पनेसा, भिक्खवे, तण्हा कत्थ उप्पज्जमाना उप्पज्जति, कत्थ निविसमाना निविसति ? यं लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

"किञ्च लोके पियरूपं सातरूपं ? चक्खु लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति । सोतं लोके...पे०... घानं लोके... जिव्हा लोके... कायो लोके... मनो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

"रूपा लोके... सद्दा लोके... गन्धा लोके... रसा लोके... फोट्ठब्बा लोके... धम्मा लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

"चक्खुविञ्ञाणं लोके... सोतविञ्ञाणं लोके... घानविञ्ञाणं लोके... जिव्हाविञ्ञाणं लोके... कायविञ्ञाणं लोके... मनोविञ्ञाणं लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

"चक्खुसम्फस्सो लोके... सोतसम्फस्सो लोके... घानसम्फस्सो लोके... जिव्हासम्फस्सो लोके... कायसम्फस्सो लोके... मनोसम्फस्सो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है 'संक्षेप में पांचों उपादान-स्कंध दुःख' ? जैसे कि – रूप उपादान-स्कंध, वेदना उपादान-स्कंध, संज्ञा उपादान-स्कंध, संस्कार उपादान-स्कंध (और) विज्ञान उपादान-स्कंध ? भिक्षुओ ! यही कहलाते हैं – 'संक्षेप में पांचों उपादान-स्कंध दुःख'।

''भिक्षुओ ! यही कहलाता है दुःख आर्यसत्य।

समुदयसत्य-संबंधी निर्देश

''और भिक्षुओ ! क्या होता है दुःखसमुदय आर्यसत्य ? जो यह नंदीराग से जुड़ी हुई, जिस-किसी विषय का अभिनंदन करने वाली, बार-बार उत्पन्न होने वाली तृष्णा है – जैसे काम तृष्णा, भव तृष्णा, विभव तृष्णा।

''और भिक्षुओ ! कहां जागती है, कहां पैठती है ? इस लोक (शरीर) में जो प्रिय लगता है, अच्छा लगता है, वहीं तृष्णा की उत्पत्ति होती है, वहीं यह पैठती है।

''लोक में क्या प्रिय लगता है, क्या अच्छा लगता है ? लोक में चक्षु प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां निवास करती है। लोक में श्रोत्र... लोक में घ्राण... लोक में जिह्वा... लोक में काय... लोक में मन प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में रूप... लोक में शब्द... लोक में गंध... लोक में रस... लोक में स्प्रष्टव्य... लोक में धर्म प्रिय लगते हैं, अच्छे लगते हैं। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में चक्षुविज्ञान... लोक में श्रोत्रविज्ञान... लोक में घ्राणविज्ञान... लोक में जिह्वाविज्ञान... लोक में कायविज्ञान... लोक में मनोविज्ञान प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में चक्षुसंस्पर्श... लोक में श्रोत्रसंस्पर्श... लोक में घ्राणसंस्पर्श... लोक में जिह्वासंस्पर्श... लोक में कायसंस्पर्श... लोक में मनःसंस्पर्श प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

“चक्खुसम्फस्सजा वेदना लोके... सोतसम्फस्सजा वेदना लोके... घानसम्फस्सजा वेदना लोके... जिव्हासम्फस्सजा वेदना लोके... कायसम्फस्सजा वेदना लोके... मनोसम्फस्सजा वेदना लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

“रूपसञ्ञा लोके... सद्दसञ्ञा लोके... गन्धसञ्ञा लोके... रससञ्ञा लोके... फोट्ठब्बसञ्ञा लोके... धम्मसञ्ञा लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

“रूपसञ्चेतना लोके... सद्दसञ्चेतना लोके... गन्धसञ्चेतना लोके... रससञ्चेतना लोके... फोट्ठब्बसञ्चेतना लोके... धम्मसञ्चेतना लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

“रूपतण्हा लोके... सद्दतण्हा लोके... गन्धतण्हा लोके... रसतण्हा लोके... फोट्ठब्बतण्हा लोके... धम्मतण्हा लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

“रूपवितक्को लोके... सद्दवितक्को लोके... गन्धवितक्को लोके... रसवितक्को लोके... फोट्ठब्बवितक्को लोके... धम्मवितक्को लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

“रूपविचारो लोके... सद्दविचारो लोके... गन्धविचारो लोके... रसविचारो लोके... फोट्ठब्बविचारो लोके... धम्मविचारो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति ।

“इदं वुच्चति, भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं ।

निरोधसच्चनिद्देसो

“कतमञ्च, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं ? यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो ।

सा खो पनेसा, भिक्खवे, तण्हा कत्थ पहीयमाना पहीयति, कत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ? यं लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

''लोक में चक्षु के संस्पर्श से होने वाली वेदना... लोक में श्रोत्र के संस्पर्श से होने वाली वेदना... घ्राण के संस्पर्श से होने वाली वेदना... जिह्वा के संस्पर्श से होने वाली वेदना... काय के संस्पर्श से होने वाली वेदना... मन के संस्पर्श से होने वाली वेदना प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में रूपसंज्ञा... लोक में शब्दसंज्ञा... लोक में गंधसंज्ञा... लोक में रससंज्ञा... लोक में स्प्रष्टव्यसंज्ञा... लोक में धर्मसंज्ञा प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में रूपसंचेतना... लोक में शब्दसंचेतना... लोक में गंधसंचेतना... लोक में रससंचेतना... लोक में स्प्रष्टव्यसंचेतना... लोक में धर्मसंचेतना प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में रूपतृष्णा... लोक में शब्दतृष्णा... लोक में गंधतृष्णा... लोक में रसतृष्णा... लोक में स्प्रष्टव्यतृष्णा... लोक में धर्मतृष्णा प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में रूपवितर्क... लोक में शब्दवितर्क... लोक में गंधवितर्क... लोक में रसवितर्क... लोक में स्प्रष्टव्यवितर्क... लोक में धर्मवितर्क प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''लोक में रूपविचार... लोक में शब्दविचार... लोक में गंधविचार... लोक में रसविचार... लोक में स्प्रष्टव्यविचार... लोक में धर्मविचार प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।

''भिक्षुओ! यह कहलाता है दुःखसमुदय आर्यसत्य।

निरोधसत्य-संबंधी निर्देश

''और भिक्षुओ! क्या होता है दुःखनिरोध आर्यसत्य? जो होता है उसी तृष्णा का सर्वथा विराग-निरोध, त्याग, प्रतिनिसर्ग, मुक्ति, अनालय।

''और फिर, भिक्षुओ! यह तृष्णा कहां प्रहीण होती है, कहां निरुद्ध होती है? लोक में जो प्रिय लगता है, अच्छा लगता है, यहीं यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहीं निरुद्ध होती है।

"किञ्च लोके पियरूपं सातरूपं ? चक्खु लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति । सोतं लोके...पे०... घानं लोके... जिव्हा लोके... कायो लोके... मनो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

"रूपा लोके... सद्दा लोके... गन्धा लोके... रसा लोके... फोट्ठब्बा लोके... धम्मा लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

"चक्खुविञ्ञाणं लोके... सोतविञ्ञाणं लोके... घानविञ्ञाणं लोके... जिव्हाविञ्ञाणं लोके... कायविञ्ञाणं लोके... मनोविञ्ञाणं लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

"चक्खुसम्फस्सो लोके... सोतसम्फस्सो लोके... घानसम्फस्सो लोके... जिव्हासम्फस्सो लोके... कायसम्फस्सो लोके... मनोसम्फस्सो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

"चक्खुसम्फस्सजा वेदना लोके... सोतसम्फस्सजा वेदना लोके... घानसम्फस्सजा वेदना लोके... जिव्हासम्फस्सजा वेदना लोके... कायसम्फस्सजा वेदना लोके... मनोसम्फस्सजा वेदना लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

"रूपसञ्ञा लोके... सद्दसञ्ञा लोके... गन्धसञ्ञा लोके... रससञ्ञा लोके... फोट्ठब्बसञ्ञा लोके... धम्मसञ्ञा लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

"रूपसञ्चेतना लोके... सद्दसञ्चेतना लोके... गन्धसञ्चेतना लोके... रससञ्चेतना लोके... फोट्ठब्बसञ्चेतना लोके... धम्मसञ्चेतना लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

''लोक में क्या प्रिय लगता है, अच्छा लगता है ? लोक में चक्षु प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है। लोक में श्रोत्र... लोक में घ्राण... लोक में जिह्वा... लोक में काय... लोक में मन प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में रूप... लोक में शब्द... लोक में गंध... लोक में रस... लोक में स्प्रष्टव्य... लोक में धर्म प्रिय लगते हैं, अच्छे लगते हैं। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में चक्षुविज्ञान... लोक में श्रोत्रविज्ञान... लोक में घ्राणविज्ञान... लोक में जिह्वाविज्ञान... लोक में कायविज्ञान... लोक में मनोविज्ञान प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में चक्षुसंस्पर्श... लोक में श्रोत्रसंस्पर्श... लोक में घ्राणसंस्पर्श... लोक में जिह्वासंस्पर्श... लोक में कायसंस्पर्श... लोक में मन:संस्पर्श प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में चक्षु के संस्पर्श से होने वाली वेदना... लोक में श्रोत्र के संस्पर्श से होने वाली वेदना... लोक में घ्राण के संस्पर्श से होने वाली वेदना... लोक में जिह्वा के संस्पर्श से होने वाली वेदना... लोक में काय के संस्पर्श से होने वाली वेदना... लोक में मन के संस्पर्श से होने वाली वेदना प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में रूपसंज्ञा... लोक में शब्दसंज्ञा... लोक में गंधसंज्ञा... लोक में रससंज्ञा... लोक में स्प्रष्टव्यसंज्ञा... लोक में धर्मसंज्ञा प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में रूपसंचेतना... लोक में शब्दसंचेतना... लोक में गंधसंचेतना... लोक में रससंचेतना... लोक में स्प्रष्टव्यसंचेतना... लोक में धर्मसंचेतना प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''रूपतण्हा लोके... सद्दतण्हा लोके... गन्धतण्हा लोके... रसतण्हा लोके... फोट्ठब्बतण्हा लोके... धम्मतण्हा लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

''रूपवितक्को लोके... सद्दवितक्को लोके... गन्धवितक्को लोके... रसवितक्को लोके... फोट्ठब्बवितक्को लोके... धम्मवितक्को लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

''रूपविचारो लोके... सद्दविचारो लोके... गन्धविचारो लोके... रसविचारो लोके... फोट्ठब्बविचारो लोके... धम्मविचारो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति ।

''इदं वुच्चति, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं ।

मग्गसच्चनिद्देसो

''कतमञ्च, भिक्खवे, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं ? अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो सेय्यथिदं – सम्मादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि ।

''कतमा च, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि ? यं खो, भिक्खवे, दुक्खे ञाणं, दुक्खसमुदये ञाणं, दुक्खनिरोधे ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय ञाणं । अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि ।

''कतमो च, भिक्खवे, सम्मासङ्कप्पो ? नेक्खम्मसङ्कप्पो, अब्यापादसङ्कप्पो, अविहिंसासङ्कप्पो । अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मासङ्कप्पो ।

''कतमा च, भिक्खवे, सम्मावाचा ? मुसावादा वेरमणी, पिसुणाय वाचाय वेरमणी, फरुसाय वाचाय वेरमणी, सम्फप्पलापा वेरमणी । अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मावाचा ।

''लोक में रूपतृष्णा... लोक में शब्दतृष्णा... लोक में गंधतृष्णा... लोक में रसतृष्णा... लोक में स्प्रष्टव्यतृष्णा... लोक में धर्मतृष्णा प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में रूपवितर्क... लोक में शब्दवितर्क... लोक में गंधवितर्क... लोक में रसवितर्क... लोक में स्प्रष्टव्यवितर्क... लोक में धर्मवितर्क प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''लोक में रूपविचार... लोक में शब्दविचार... लोक में गंधविचार... लोक में रसविचार... लोक में स्प्रष्टव्यविचार... लोक में धर्मविचार प्रिय लगता है, अच्छा लगता है। यहां यह तृष्णा प्रहीण होती है, यहां निरुद्ध होती है।

''भिक्षुओ! यह कहलाता है दुःखनिरोध आर्यसत्य।

मार्गसत्य-संबंधी निर्देश

''और भिक्षुओ! क्या होता है 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य'? यही आर्य आष्टांगिक मार्ग, अर्थात सम्यक दर्शन, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्मांत, सम्यक आजीविका, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति (और) सम्यक समाधि।

''और भिक्षुओ! क्या होता है सम्यक दर्शन? भिक्षुओ! यह जो होता है दुःखविषयक ज्ञान, दुःखसमुदयविषयक ज्ञान, दुःखनिरोधविषयक ज्ञान, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदाविषयक ज्ञान– यह, भिक्षुओ! कहलाता है सम्यकदर्शन।

''और भिक्षुओ! क्या होता है सम्यक संकल्प? नैष्क्रम्य (निष्कामता अथवा निष्क्रमण, संसार-त्याग) का संकल्प, द्रोह न करने का संकल्प, विहिंसा न करने का संकल्प– यह, भिक्षुओ! कहलाता है सम्यक संकल्प।

''और भिक्षुओ! क्या होता है सम्यक वचन? झूठ बोलने से विरत रहना, चुगली खाने से विरत रहना, कठोर वचन बोलने से विरत रहना, बकवाद करने से विरत रहना– यह, भिक्षुओ! कहलाता है सम्यक वचन।

"कतमो च, भिक्खवे, सम्माकम्मन्तो? पाणातिपाता वेरमणी, अदिन्नादाना वेरमणी, कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी। अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्माकम्मन्तो।

"कतमो च, भिक्खवे, सम्माआजीवो? इध, भिक्खवे, अरियसावको मिच्छाआजीवं पहाय सम्माआजीवेन जीवितं कप्पेति। अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्माआजीवो।

"कतमो च, भिक्खवे, सम्मावायामो? इध, भिक्खवे, भिक्खु अनुप्पन्नानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं अनुप्पादाय छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति; उप्पन्नानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं पहानाय छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति; अनुप्पन्नानं कुसलानं धम्मानं उप्पादाय छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति; उप्पन्नानं कुसलानं धम्मानं ठितिया असम्मोसाय भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति। अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मावायामो।

"कतमा च, भिक्खवे, सम्मासति? इध, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं। अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मासति।

"कतमो च, भिक्खवे, सम्मासमाधि? इध, भिक्खवे, भिक्खु विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति। वितक्कविचारानं

''और भिक्षुओ ! क्या होता है सम्यक कर्मांत ? प्राणियों की हिंसा से विरत रहना, चोरी से विरत रहना, व्यभिचार से विरत रहना – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है सम्यक कर्मांत।

''और भिक्षुओ ! क्या होती है सम्यक आजीविका ? यहां, भिक्षुओ ! आर्यश्रावक मिथ्या आजीविका को छोड़ कर सम्यक आजीविका से जीवन-यापन करता है – यह, भिक्षुओ ! कहलाती है सम्यक आजीविका।

''और भिक्षुओ ! क्या होता है सम्यक व्यायाम ? यहां, भिक्षुओ ! (कोई) भिक्षु अनुत्पन्न पापपूर्ण अकुशल धर्मों को उत्पन्न न होने देने के लिए छंद (इच्छा) पैदा करता है, उद्योग करता है, वीर्यारंभ करता है, चित्त को रोकता-थामता है; उत्पन्न हुए पापपूर्ण अकुशल धर्मों के प्रहाण के लिए इच्छा जगाता है, उद्योग करता है, वीर्यारंभ करता है, चित्त को रोकता-थामता है; अनुत्पन्न कुशल धर्मों की उत्पत्ति के लिए इच्छा जगाता है, उद्योग करता है, वीर्यारंभ करता है, चित्त को रोकता-थामता है; (और) उत्पन्न हुए कुशल धर्मों की स्थिति, अ-नाश, वृद्धि, विपुलता, भावना की परिपूर्णता के लिए इच्छा जगाता है, उद्योग करता है, वीर्यारंभ करता है, चित्त को रोकता-थामता है – यह, भिक्षुओ ! कहलाता है सम्यक व्यायाम।

''और भिक्षुओ ! क्या होती है सम्यक स्मृति ? यहां, भिक्षुओ ! (कोई) भिक्षु (साढ़े तीन हाथ के काया रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है;

(साढ़े तीन हाथ के काया रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है;

(साढ़े तीन हाथ के काया रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है; (और)

(साढ़े तीन हाथ के काया रूपी) लोक में राग और द्वेष को दूर कर, श्रमशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन, धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है। यह, भिक्षुओ ! कहलाती है सम्यक स्मृति।

''और भिक्षुओ ! क्या होती है सम्यक समाधि ? यहां भिक्षुओ ! (कोई) भिक्षु कामों से अलग हो, अकुशल धर्मों से अलग हो, विवेक से उत्पन्न स-वितर्क और स-विचार प्रीति और सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहार करता है। (फिर) वितर्क और विचार के शांत होने पर भीतरी शांत और

वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति। पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति, सतो च सम्पजानो, सुखञ्च कायेन पटिसंवेदेति, यं तं अरिया आचिक्खन्ति 'उपेक्खको सतिमा सुखविहारी'ति ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरति। सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति। अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मासमाधि।

''इदं वुच्चति, भिक्खवे, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं।

''इति अज्झत्तं वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, बहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, अज्झत्तबहिद्धा वा धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति। समुदयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, वयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति, समुदयवयधम्मानुपस्सी वा धम्मेसु विहरति। 'अत्थि धम्मा'ति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति। यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिस्सितो च विहरति, न च किञ्चि लोके उपादियति। एवम्पि खो, भिक्खवे, भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति चतूसु अरियसच्चेसु।

(सच्चपब्बं निट्ठितं)

[धम्मानुपस्सना निट्ठिता।]

सतिपट्ठानभावनानिसंसो

''यो हि कोचि, भिक्खवे, इमे चत्तारो सतिपट्ठाने एवं भावेय्य सत्तवस्सानि, तस्स द्विन्नं फलानं अञ्ञतरं फलं पाटिकङ्खं – दिट्ठेव धम्मे अञ्ञा; सति वा उपादिसेसे अनागामिता।

''तिट्ठन्तु, भिक्खवे, सत्तवस्सानि। यो हि कोचि, भिक्खवे, इमे चत्तारो सतिपट्ठाने एवं भावेय्य छ वस्सानि...पे०... पञ्च वस्सानि... चत्तारि वस्सानि... तीणि वस्सानि... द्वे वस्सानि... एकं वस्सं... तिट्ठतु, भिक्खवे, एकं वस्सं। यो हि कोचि, भिक्खवे, इमे चत्तारो सतिपट्ठाने एवं भावेय्य सत्तमासानि, तस्स द्विन्नं फलानं अञ्ञतरं फलं पाटिकङ्खं – दिट्ठेव धम्मे अञ्ञा; सति वा उपादिसेसे अनागामिता।

चित्त की एकाग्रता वाले वितर्करहित विचाररहित प्रीति-सुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त हो विहार करता है। (फिर) प्रीति से विरक्त हो, उपेक्षक बन, स्मृति-संप्रज्ञान से युक्त हो, शरीर से सुख अनुभव करते हैं जिसे कि आर्य उपेक्षक स्मृतिमान, सुखविहारी कहते हैं, उस तृतीय ध्यान को प्राप्त हो विहार करता है। (फिर) सुख और दुःख के परित्याग से सौमनस्य (चित्तोल्लास) और दौर्मनस्य (चित्तसंताप) के पहले ही अंत हो जाने से, सुख-दुःख-रहित – जिसमें उपेक्षा से स्मृति की शुद्धि हो जाती है, उस चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हो विहार करता है। यह, भिक्षुओ ! कहलाती है सम्यक-समाधि।

''भिक्षुओ ! यह कहलाता है 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य'।

''इस प्रकार भीतर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा बाहर की ओर धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है, अथवा भीतर-बाहर (सर्वत्र) धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है; अथवा समुदयधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है, अथवा व्ययधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है, अथवा समुदयव्ययधर्मानुपश्यी होकर धर्मों में विहार करता है; अथवा इसकी स्मृति (इस सच्चाई में) प्रतिष्ठापित हो जाती है – 'यह धर्म हैं !' जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहरता है और लोक में कुछ भी ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ ! इस प्रकार भी (कोई) भिक्षु चार आर्यसत्य धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।

(सत्यपर्व समाप्त)

[धर्मानुपश्यना संपूर्ण]

स्मृति-प्रस्थान की भावना करने का शुभ परिणाम

''भिक्षुओ ! जो कोई इन चार स्मृतिप्रस्थानों की इस प्रकार सात वर्ष भावना करे, उसको (इन) दो फलों में से एक फल की आशा रखनी चाहिए – इसी जन्म में निर्वाण का साक्षात्कार अथवा, उपाधि (मलिनता) शेष होने पर, अनागामीभाव।

''रहने दो, भिक्षुओ ! सात वर्ष। भिक्षुओ ! जो कोई इन चार स्मृतिप्रस्थानों की इस प्रकार छः वर्ष भावना करे... पांच वर्ष... चार वर्ष... तीन वर्ष... दो वर्ष... एक वर्ष... रहने दो, भिक्षुओ ! एक वर्ष। भिक्षुओ ! जो कोई इन चार स्मृतिप्रस्थानों की इस प्रकार सात माह भावना करे, उसको (इन) दो फलों में से एक फल की आशा रखनी चाहिए – इसी जन्म में निर्वाण का साक्षात्कार अथवा, उपाधि शेष होने पर, अनागामीभाव।

"तिट्ठन्तु, भिक्खवे, सत्त मासानि। यो हि कोचि, भिक्खवे, इमे चत्तारो सतिपट्ठाने एवं भावेय्य छ मासानि...पे०... पञ्च मासानि... चत्तारि मासानि... तीणि मासानि... द्वे मासानि... एकं मासं... अड्ढमासं... तिट्ठतु, भिक्खवे, अड्ढमासो। यो हि कोचि, भिक्खवे, इमे चत्तारो सतिपट्ठाने एवं भावेय्य सत्ताहं, तस्स द्विन्नं फलानं अञ्ञतरं फलं पाटिकङ्खं– दिट्ठेव धम्मे अञ्ञा; सति वा उपादिसेसे अनागामिता"ति।

"एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया, सोकपरिदेवानं, समतिक्कमाय, दुक्खदोमनस्सानं अत्थङ्गमाय, ञायस्स अधिगमाय, निब्बानस्स सच्छिकिरियाय, यदिदं चत्तारो सतिपट्ठानाति। इति यं तं वुत्तं, इदमेतं पटिच्च वुत्त"न्ति।

इदमवोच भगवा। अत्तमना ते भिक्खू भगवतो भासितं अभिनन्दुन्ति।

महासतिपट्ठानसुत्तं निट्ठितं।

****

"रहने दो, भिक्षुओ! सात माह। भिक्षुओ! जो कोई इन चार स्मृतिप्रस्थानों की इस प्रकार छः माह भावना करे... पांच माह... चार माह... तीन माह... दो माह... एक माह... अर्द्धमास... रहने दो, भिक्षुओ! अर्द्धमास। भिक्षुओ! जो कोई इन चार स्मृतिप्रस्थानों की इस प्रकार सात दिन भावना करे, उसको (इन) दो फलों में से एक फल की आशा रखनी चाहिए – इसी जन्म में निर्वाण का साक्षात्कार अथवा, उपाधि शेष होने पर, अनागामीभाव।

"भिक्षुओ! ये जो चार स्मृतिप्रस्थान हैं वे सत्त्वों की विशुद्धि, शोक और क्रंदन का विनाश, दुःख और दौर्मनस्य का अवसान, सत्य की प्राप्ति (और) निर्वाण का साक्षात्कार – इन सबके लिए अकेला मार्ग है। यह जो (कुछ) कहा गया है, वह इसी कारण से कहा गया है।"

भगवान ने यह कहा। उन भिक्षुओं ने प्रसन्नचित्त हो भगवान के कहे का अभिनंदन किया।

महासतिपट्ठानसुत्त संपूर्ण

*****

सुत्त का प्रायोगिक पक्ष

(स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर)

– सत्यनारायण गोयन्का

सफल विपश्यी साधक चार सूक्ष्मताओं की चरमसीम सच्चाईयों का साक्षात्कार कर लेता है। चार परम सत्य का स्वयं साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है।

पहली सूक्ष्मता है काया की। कायानुपश्यना करता हुआ साधक प्रारंभ में काया के ठोसपने की अनुभूति करता है। बार-बार के अभ्यास से स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है। बींधते हुए तीक्ष्ण चित्त से ऊपर से नीचे की ओर तथा नीचे से ऊपर की ओर यात्रा करते-करते स्वतः शरीर का घनत्व नष्ट होता है। फिर इसी तीक्ष्णता से समग्र शरीर-पिंड को चीरता हुआ केवल ऊपरी-ऊपरी सतही स्तर तक ही नहीं, बल्कि भीतर तक की घनसंज्ञा नष्ट कर लेता है। रूपकलाप याने शरीरगत परमाणुओं की सूक्ष्म सच्चाई तक जा पहुँचता है, जो भौतिक जगत का अंतिम सत्य है। शरीर का एक-एक कण खुल जाता है। कहीं भी संकलन, संघटन, संयोजन, संश्लेषण नहीं रह जाता। जैसे कोई बालू का गीला पिंड सूख जाय, कण-कण को बांधे रखने वाली संयोजनरूपी नमी दूर हो जाय, घनीभूत पिंड विघटित हो जाय, बिखर जाय। शरीर के बाहर-भीतर कहीं भी कोई स्थिर, शाश्वत, ध्रुव, अचल, ठोस पदार्थ है, ऐसा भ्रम नहीं रह जाय। यही रूप-स्कंध की याने भौतिकरूप की अंतिम सच्चाई तक पहुँचना है। यही रूप का सूक्ष्मतम साक्षात्कार है जिसमें कि भासमान प्रकट सत्य परमसत्य के रूप में अनुभूत होने लगता है।

दूसरी सूक्ष्मता है वेदना-स्कंध की। विपश्यी साधक वेदनानुपश्यना करता हुआ देखता है कि प्रारंभ में समस्त शरीर पर अधिकतर स्थूल-स्थूल संवेदनाएं महसूस होती हैं। जैसे कि घनीभूत दबाव, दुखाव, तनाव, खिंचाव, भारीपन अथवा मूर्छा, अर्धमूर्छा आदि-आदि। परंतु शांत और समता-भरे चित्त से इन स्थूल संवेदनाओं का साक्षीकरण करते-करते इनका स्वतः भेदन होने

लगता है। शनैः शनैः शरीर के भीतर-बाहर सर्वत्र स्थूल संवेदनाएं क्षीण होने लगती हैं। उनका विघटन-विश्लेषण होने लगता है और एक अवस्था आती है जबकि शरीर पर कहीं भी मूर्छा या अर्धमूर्छा नहीं रह जाती। कहीं कोई सघन संवेदना नहीं रह जाती। सर्वत्र तरंगें, उदय-व्यय ही उदय-व्यय की अनुभूति होने लगती है। अनासक्तभाव से इसी का दर्शन करते-करते संवेदना की यह उदय-व्यय अनुभूति भी अधिक सूक्ष्मता की ओर प्रयाण करने लगती है और सूक्ष्मतम अवस्था तक पहुँचती है। तब उदय और व्यय की अलग-अलग अनुभूति भी बंद हो जाती है। उदय होते ही व्यय होता है। बीच की स्थिति ही समाप्त हो जाती है। यह परमाणुओं से चित्त का स्पर्श होते ही वेदना की उत्पत्ति की सूक्ष्मतम सच्चाई है, जो तत्क्षण व्यय में बदलती है। इस अवस्था में सारा प्रपंच इस तीव्रगति से प्रवाहमान प्रतीत होता है कि सर्वत्र भंग-ही-भंग का बोध होता है। जैसे बहती हुई नदी बालू के तटवर्ती कगार को काट दे और वह बालू का ढेर भरभरा कर गिर पड़े। कण-कण बिखर जाय। यों सारे शरीर-स्कंध पर जो संवेदना महसूस होती है वह अत्यंत तीव्रगति से भंग होती हुई, बिखरती हुई ही महसूस होती है। कहीं ठोसपना नहीं, स्थूलता नहीं। कहीं अटकाव नहीं, व्यवधान नहीं, रुकावट नहीं, बाधा नहीं। सर्वत्र धारा-प्रवाह की ही अनुभूति होती है। यह भंग बोध ही संवेदना की सूक्ष्मतम अवस्था का साक्षीकरण है जो संवेदनाओं को सामिष नहीं बनने देता याने उनके प्रति राग-द्वेष नहीं जगने देता; जो संवेदनाओं को निरामिष बनाए रखता है याने उनके प्रति अनासक्तभाव पुष्ट करता है।

इसी प्रकार विपश्यी साधक चित्तानुपश्यना करता हुआ, चित्त के उस खंड के क्रिया-कलाप को देखता है जिसे संज्ञा कहते हैं तथा जिसका काम मूल्यांकन करना है। पूर्व अनुभूतियों और यादगारों के बल पर, पूर्व संस्कारों के रंगीन चश्मे चढ़ाए हुए चित्त का यह संज्ञा-स्कंध प्रत्येक अनुभूति को अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय, सुखद या दुःखद आदि-आदि मूल्य देते रहता है। साधक देखता है कि यह संज्ञा-स्कंध कितना प्रबल है। प्रत्येक अनुभूति अच्छे-बुरे मूल्यांकन से जुड़ी ही रहती है। जिस अनुभूति को अच्छी मान लेता है उसे लगातार कितने अरसे तक अच्छी माने जाता है। जिसे बुरी मान लेता है उसे लगातार कितने अरसे तक बुरी ही माने जाता है। तारतम्य टूटता ही नहीं। संज्ञा की निरंतरता बनी ही रहती है। परिणामतः संज्ञा-स्कंध घनीभूत होते जाता है। विपश्यना के बल पर साक्षीकरण का अभ्यास करते-करते साधक देखने लगता है कि किस प्रकार घनीभूत संज्ञा के कारण ही प्रतिक्रियाओं से अभिभूत चित्त राग-द्वेष के नए संस्कार बनाता है और

दूषित हो उठता है। और कैसे जब संज्ञा की निरंतरता टूटती है तो सघनता दुर्बल होती है। स्थूल से सूक्ष्म होती हुई संज्ञा की जकड़ कम होती है तो प्रतिक्रियाओं का प्रभाव भी स्वतः कम होने लगता है।

इसी प्रकार चित्तानुपश्यना के साथ-साथ साधक धर्मानुपश्यना भी करने लगता है। रूपकलापों याने परमाणुओं के धर्म-स्वभाव को देखता है। वेदनाओं के धर्म-स्वभाव को देखता है। और देखता है संज्ञा और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हो रहे संस्कारों के धर्म-स्वभाव को भी। कैसे शरीर पर होने वाली किसी संवेदना के अनुभव का संज्ञा जब अच्छा, प्रिय, सुखद आदि मूल्यांकन कर देती है तो तुरंत रागात्मक संस्कार जागने लगते हैं और घनीभूत होने लगते हैं। जब उसका बुरा, दुःखद, अप्रिय मूल्यांकन कर देती है तो द्वेषात्मक संस्कार उभरने लगते हैं और घनीभूत होने लगते हैं। इन घनीभूत संस्कारों का तूफान ही भावावेश बन कर समस्त चित्त-स्कंध पर छा जाता है और चित्तधारा को व्याकुल-व्यथित कर देता है। साधक विपश्यना के आधार पर समझता है कि ये संस्कार कितने दुःखप्रद हैं। विपश्यना द्वारा ही इसके दुःखद होने का कारण भी समझ में आने लगता है। इन संस्कारों के प्रति कितना तादात्म्य स्थापित कर लिया है– आत्मभाव, आत्मीय भाव; 'मैं' का भाव, 'मेरे' का भाव। यही आसक्ति पैदा करता है। परिणामतः दुःख पैदा होता है। विपश्यी साधक को देखते-देखते स्पष्ट होने लगता है कि यह 'आत्म-आत्मीय' भाव; 'मैं-मेरे' का भाव रूप-स्कंध या शरीर-स्कंध के प्रति याने घनीभूत परमाणुओं के पुंज के प्रति कितना गहन हो उठा है। फलतः दुःख भी उतना ही गहन हो उठा है। विपश्यना द्वारा सत्य का साक्षात्कार करते-करते यह स्पष्ट होने लगता है कि जिस प्रकार रूप-स्कंध याने परमाणु-पुंज उदय-व्यय स्वभाव के हैं, अनित्यधर्मा हैं, वैसे ही वेदना भी, वैसे ही संज्ञा भी और वैसे ही संस्कार भी। यह अनित्य-बोध जितना-जितना सबल होते जाता है, संस्कारों के प्रति 'मैं-मेरे' का भाव उतना-उतना दुर्बल होते जाता है, आत्मभाव दुर्बल होता है तो अनात्मभाव स्वतः पुष्ट होता है। देखते-देखते आसक्ति क्षीण होती है। अनासक्ति पुष्ट होती है। दुःख का कारण दूर होता है। दुःख दूर होता है।

अनात्मभाव पुष्ट होता है तो ही संज्ञा का घनत्व क्षीण होता है। संस्कार का घनत्व क्षीण होता है। दर्शन ''केवल दर्शन'' बन जाता है। ज्ञान ''केवल ज्ञान'' बन जाता है। भोक्ता और कर्ता की भ्रांति तो दूर होती ही है; समय पाकर द्रष्टा और ज्ञाता की भ्रांति भी दूर हो जाती है। ''देख रहा हूं'' के स्थान पर ''देखा जा रहा है'' रह जाता है। ''जान रहा हूं''

के स्थान पर "जाना जा रहा है" रह जाता है। दर्शक, दर्शन और दृश्य तीनों एकाकार होकर "केवल दर्शन" रह जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों एकाकार होकर "केवल ज्ञान" रह जाता है। यही सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान की चरम अवस्था है। ऐसी अवस्था में ही संज्ञा-निरोध होता है। साधक अध्यात्म की गहनतम अवस्था प्राप्त करता है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन से "कैवल्य" की उपलब्धि करता है। "केवली" हो जाता है। इंद्रियातीत परमपद "निर्वाण" में यथेच्छ रत रहने में अभ्यस्त हो जाता है। उन्मुक्त हो जाता है। तब वह स्वयं जान लेता है कि अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है क्योंकि उस अवस्था में पहुँच कर पुनर्जन्म के सारे भव-संस्कार क्षीण होकर क्षय हो जाते हैं। मनुष्य-जीवन सफल-सार्थक हो जाता है। संस्कार और संज्ञा के उदय-व्यय की अनुभूति से लेकर उनके निरोध तक की यह यात्रा ही इन दोनों की चरम सूक्ष्मतम अवस्था है। विपश्यी साधक यों रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार-स्कंधों की उन सूक्ष्मतम परम सच्चाईयों की अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लेता है, जिनके आगे इन स्कंधों के क्षेत्र में कुछ और सूक्ष्मतर नहीं रह जाता। तदनंतर इनसे परे उस परम सत्य निर्वाण का साक्षात्कार करता है जो इंद्रियातीत है, नाम-रूपातीत है। साधक प्रत्यक्षानुभूति द्वारा भलीभांति जान लेता है कि स्थूल भासमान सच्चाईयों का भेदन कर सूक्ष्मतम सच्चाई तक पहुँचने की यही विद्या है, साधना है, शक्ति है। इससे बढ़ कर अन्य कोई विद्या, साधना, शक्ति नहीं। अतः इसे पाकर वह और कुछ पाने की अपेक्षा नहीं रखता।

अंतर्मुखी होकर विपश्यना साधना द्वारा स्थूल से सूक्ष्म की ओर यात्रा करने वाले साधक के लिए मार्ग में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। अनेक बार भौतिक रूप और चित्त का घनत्व नष्ट होकर सूक्ष्म प्रवाह की स्थिति प्राप्त होने के बावजूद किसी सुषुप्त कर्म-संस्कार की उदीरणा होती है तो शरीर-स्कंध पर पुनः उस संस्कार के अनुरूप कोई स्थूल घनीभूत संवेदना प्रकट करती है, कभी मूर्च्छा-अर्धमूर्च्छा प्रकट करती है। साधक धीरज के साथ फिर उन्हें भासमान स्थूल प्रकट सत्य समझ कर साक्षीभाव से देखता है तो देर-सबेर उनका भी भेदन होता है। इस प्रकार पूर्व संस्कारों की निर्जरा होती है, उनका क्षय होता है। पुनः सूक्ष्म धाराप्रवाह की अनुभूति होने लगती है। यों जब तक अधोगति की ओर ले जाने वाले सुषुप्त कर्म-संस्कारों का संग्रह पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता, तब तक बीच-बीच में स्थूलता उभरती ही रहती है। समझदार साधक इन पूर्व संस्कारजन्य संवेदनाओं के प्रति उपेक्षा का अभ्यास करता है। यह संस्कार-उपेक्षा की यात्रा किसी के लिए लंबी, किसी के लिए

लघु होती है। निर्भर करता है– पूर्व-संग्रह कितना है! निर्भर करता है– संस्कार उपेक्षा का काम कितनी समझदारीपूर्वक किया जा रहा है!

ऐसी अवस्था में कोई कच्चा साधक राजमार्ग छोड़ कर किसी गलत भूल-भुलैया में पड़ जाता है। पूर्व संस्कारजन्य स्थूल भासमान सत्य प्रकट हो तो उसके वश की बात नहीं। उनका साक्षीभाव से सामना करना ही है। परंतु जब साधक बावलेपन में स्वयं कल्पनाजनित रूप, रंग, रोशनी, शब्द आदि का कृत्रिम आलंबन उत्पन्न करके उन पर ध्यान देने लगता है तो एक भासमान सत्य से दूसरे बनावटी भासमान सत्य के उधेड़-बुन में पड़ जाता है। सूक्ष्मता की ओर जाने का रास्ता रुक जाता है। राजमार्ग छूट जाता है। किसी अंधी गली में जा अटकता है। मुक्ति दूर हो जाती है। साधक समझदार होता है तो इस धोखे से अपने आप को बचाता है।

इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर समझदारीपूर्वक स्थूल सत्य से सूक्ष्म सत्य की ओर प्रयाण और सूक्ष्मतम सत्य तक की पहुँच सब के लिए अत्यंत कल्याणकारी है। साधक विपश्यना के सतत अभ्यास द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम की ओर गतिशील बने रहना सीखे, किसी भुलावे में भटके नहीं और इस प्रकार सही माने में अपना मंगल-कल्याण साधे! स्वस्ति-मुक्ति साधे!

पालि शब्दों के अर्थ

अकन्ता – अकांत, अप्रिय
अकुसलानं – अकुशलों का, अशुभों का
अकुसलेहि – अकुशलों द्वारा, अशुभों द्वारा
अज्झत्तं – भीतर
अज्झत्तबहिद्धा – भीतर-बाहर (सर्वत्र)
अज्झत्तिकबाहिरेसु – भीतरी-बाहरी में
अञ्छन्तो – घुमाते हुए
अञ्छामि – घुमा रहा हूं
अञ्ञतरं – अन्य (दूसरे) को
अञ्ञतरञ्ञतरेन – अन्य-अन्य (दूसरे-दूसरे) से
अञ्ञा – परम ज्ञान, निर्वाण
अञ्ञेन – अन्य (दूसरे) द्वारा
अट्ठङ्गिको – अष्टांगिक, आठ अंग वाला
अट्ठि – अस्थि, हड्डी
अट्ठिकसङ्खलिकं – हड्डी-कंकाल वाले
अट्ठिकानि – अस्थियां, हड्डियां
अट्ठिमिञ्जं – मज्जा
अड्ढमासं – अर्द्धमास तक, पंद्रह दिनों तक
अड्ढमासो – अर्द्धमास, पंद्रह दिन
अत्तमना – प्रसन्नचित्त
अत्थकामा – अर्थ (भला) चाहने वाले
अत्थङ्गमा – अस्तगमन (निरोध) से
अत्थङ्गमाय – अस्तगमन (निरोध) के लिए
अत्थङ्गमो – अस्तगमन, निरोध
अत्थि – है
अदिन्नादाना – न दिये हुए को लेने से, चोरी से
अदुक्खमसुखं – अदु:ख-असुख
अधिगमाय – अधिगमन (प्राप्त) करने के लिए
अधो – नीचे
अनत्थकामा – अनर्थ (बुरा) चाहने वाले
अनागामिता – वह अवस्था जिसे प्राप्त कर पुनः इस संसार में आगमन नहीं होता
अनालयो – आलय (ठौर-ठिकाने) का अभाव
अनिट्ठा – अनिच्छित, अनभीप्सित
अनिस्सितो – अनाश्रित
अनुत्तरं – सर्वोत्तम, जिससे बढ़ कर कुछ न हो
अनुप्पन्नस्स – अनुत्पन्न (पैदा न हुए) का
अनुप्पन्नानं – अनुत्पन्नों (पैदा न हुओं) का
अनुप्पन्नाय – अनुत्पत्ति (पैदा न होने) के लिए
अनुप्पादाय – अनुत्पाद (पैदा न होने) के लिए
अनुप्पादो – अनुत्पाद, पैदा न होना
अन्तं – आंत्र (आंत)
अन्तगुणं – आंत्रयोजनी
अन्तरधानं – अंतर्धान (अदृश्य) होना
अन्तोपरिसोको – अन्त:परिशोक, भीतर का गहरा दु:ख
अन्तोसोको – अन्त:शोक, भीतर का दु:ख
अपगतमंसलोहितं – मांस और लहू से विरहित
अपगतसम्बन्धानि –जोड़-रहित
अप्पियेहि – अप्रियों द्वारा

[२] पालि शब्दों के अर्थ

अफासुककामा – असुविधा चाहने वाले
अब्यापादसङ्कप्पो – द्रोह न करने का संकल्प
अभिक्कन्ते – आगे बढ़ते हुए
अभिज्झा – राग, लोलुपता
अभिज्झादोमनस्सं – लोलुपता (और) दौर्मनस्य
अभिनन्दुं – अभिनंदन किया
अभिनिब्बत्ति – उत्पत्ति
अमच्चा – अमात्य, संगी-साथी
अमनापा – अच्छा न लगने वाले
अमहग्गतं – अ-महद्गत, अ-प्रवृद्ध, जो खूब बढ़ा हुआ न हो
अमिस्सीभावो – अमिश्रण
अयं – यह
अयमेव – यही
अयम्पि – यह भी
अयोगक्खेमकामा – योगक्षेम न चाहने वाले
अरञ्ञगतो – अरण्य (जंगल) में गया हुआ
अरियसच्चं – आर्यसत्य
अरियसच्चेसु – आर्यसत्यों में
अरियसावको – आर्यश्रावक
अरिया – (बहुवचन) आर्य, श्रेष्ठ
अरियो – (एकवचन) आर्य, श्रेष्ठ
अविचारं – निर्विचार
अवितक्कं – निर्वितर्क
अविमुत्तं – अ-विमुक्त, जो मुक्त न हो
अविहिंसासङ्कप्पो – विहिंसा न करने का संकल्प
असङ्गति – मेल न होना
असन्तं – विद्यमान न होते हुए
असमागमो – समागम (मिलाप) न होना
असमाहितं – समाहित (एकाग्रचित्त) न होना
असमोधानं – समवधान (मेल) न होना
असम्मोसाय – मूढ़ता के लिए
असातं – कष्ट
असिते – खाते हुए
असुचिनो – अशुचि, अपवित्र
असेसविरागनिरोधो – अशेष विराग-निरोध, पूरी तरह से हटा देना वा उखाड़ फेंकना
अस्स – हो
अस्ससति – सांस लेता है
अस्ससन्तो – सांस लेते हुए
अस्ससामि – सांस लेता हूं
अस्ससिस्सामि – सांस लूंगा
अस्साम – हों
अस्सु – अश्रु, आंसू
अहितकामा – अहित चाहने वाले
अहो – (विस्मय-बोधक शब्द)
आगच्छेय्य – आए
आगच्छेय्युं – आएं
आचिक्खन्ति – कहते हैं, बताते हैं
आतापी – खूब तपने वाला, उद्योगशील
आदेवना – रोना-पीटना
आदेवितत्तं – रोना-पीटना
आदेवो – रोना-पीटना
आनापानपब्बं – आनापान पर्व
आपोधातु – जलधातु
आभुजित्वा – मोड़ कर
आमन्तेसि – आमंत्रित किया
आयतनपब्बं – आयतन पर्व
आयतनानं – आयतनों का
आयतनेसु – आयतनों में
आयतिं – भविष्य में
आयासितत्तं – आयास, कष्ट
आयासो – कष्ट, परेशानी
आयुनो – आयु का
आरभति – आरंभ करता है
आलोकिते – देखने पर
इच्छा – अभिलाषा, चाह
इच्छाय – अभिलाषा (चाह) करने से
इट्ठा – इच्छित, अभीप्सित

इति – (वाक्य की समाप्ति का संकेत-वाचक शब्द)
इदं – यह
इदमवोच – यह बोला
इदमेतं – यह इसको
इदम्पि – यह भी
इध – यहां
इन्द्रियानं – इंद्रियों का
इममेव – इसको ही
इमस्मिं – इसमें
इमे – ये
इरियापथपब्बं – ईर्यापथ पर्व
उच्चारपस्सावकम्मे – मल-मूत्र करना
उजुं – ऋजु, सीधा
उदरियं – आमाशय
उद्देसो – उद्देश, ज्ञप्ति, ज्ञापन
उद्धं – ऊर्ध्व, ऊपर
उद्धच्चकुक्कुच्चं – औद्धत्य-कौकृत्य, उद्वेग-खेद
उद्धच्चकुक्कुच्चस्स – औद्धत्य-कौकृत्य (उद्वेग-खेद) का
उद्धुमातकं – सूजा हुआ, फूला हुआ
उपट्ठपेत्वा – स्थापित कर
उपसंहरति – तुलना करता है
उपसम्पज्ज – प्राप्त कर
उपादानक्खन्धेसु – उपादान-स्कंधों में
उपादियति – ग्रहण करता है
उपादिसेसे – उपाधि शेष होने पर
उपायासितत्तं – उपायास (उद्वेग) का होना
उपायासो – उपायास, उद्वेग
उपेक्खको – उपेक्षक
उपेक्खासतिपारिसुद्धिं – उपेक्षा और स्मृति की आत्यंतिक शुद्धि को
उपेक्खासम्बोज्झङ्गं – उपेक्षा-संबोध्यंग को
उपेक्खासम्बोज्झङ्गस्स – उपेक्षा-संबोध्यंग की
उपेक्खासम्बोज्झङ्गो – उपेक्षा-संबोध्यंग
उप्पज्जति – उत्पन्न होता है
उप्पज्जमाना – उत्पन्न होते हुए
उप्पन्नस्स – उत्पन्न हुए का
उप्पन्नानं – उत्पन्न हुओं का
उप्पन्नाय – उत्पन्न होने के लिए
उप्पादाय – उत्पाद (उत्पत्ति) के लिए
उप्पादो – उत्पाद, उत्पत्ति
उभतोमुखा – दोनों ओर से खुले हुए मुंह वाली
उरुट्ठिकं – जांघ की हड्डी
एकं – एक
एकायनो – एकमात्र
एकाहमतं – एक दिन के
एकोदिभावं – एकाग्रता को
एतदवोच – यह बोला
एत्थ – यहां
एत्थेसा – यहां यह
एवं – इस प्रकार
एवंअनतीतो – ऐसा होने से बच न पाने वाला
एवंधम्मो – ऐसे धर्म (स्वभाव) वाला
एवंभावी – ऐसा होने वाला
एवमेव – ऐसे ही
एवम्पि – ऐसे भी
ओक्कन्ति – अवक्रमण, उत्पत्ति
कङ्केहि – बगुलों द्वारा
कटिट्ठिकं – कमर की हड्डी
कतमञ्च – और कौन-सा
कतमा – कौन-सी
कतमे – कौन-से
कतमो – कौन-सा
कत्थ – कहां
कथञ्च – और कैसे
कन्ता – कांत, प्रिय
कप्पेति – (जीवन) व्यतीत करता है
कम्मासधम्मं – एक नगर का नाम
करीसं – पाखाना
कळेवरस्स – कलेवर (शरीर) का

[४] पालि शब्दों के अर्थ

काकेहि – कौओं द्वारा
कामच्छन्दं – कामुकता को
कामच्छन्दस्स – कामुकता का
कामच्छन्दो – कामुकता
कामतण्हा – काम-तृष्णा
कामेसुमिच्छाचारा – व्यभिचार से
कामेहि – कामों से
कायं – काया को
कायञ्च – और काया को
कायविञ्ञाणं – कायविज्ञान
कायसङ्खारं – काय-संस्कार
कायसम्फस्सजं – काया के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाले को
कायसम्फस्सजा – काया के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली
कायसम्फस्सो – काया का संस्पर्श
कायस्मिं – काया में
कायानुपस्सना – काया की अनुपश्यना
कायानुपस्सी – काया की अनुपश्यना करने वाला
कायिकं – शारीरिक
काये – काया (शरीर) में
कायेन – काया (शरीर) से
कायो – काया, शरीर
कालकिरिया – कालक्रिया, मरण
किञ्च – और क्या
किञ्चि – कुछ
किलोमकं – फुफ्फुसावरण
कुरूनं – कुरुओं के
कुरूसु – कुरु प्रदेश में
कुललेहि – चीलों द्वारा
कुसलानं – कुशलों का
केसमत्थका – केश वाले सिर से
केसा – केश, बाल
कोचि – कोई
खज्जमानं – खाये जाते हुए
खण्डिच्चं – (दांत) खंडित होना, टूटना
खन्धट्ठिकं – कंधे की हड्डी
खन्धपब्बं – स्कंध पर्व
खन्धानं – स्कंधों का
खायिते – खाते हुए
खेळो – लार
गच्छन्तो – जाते हुए
गच्छामि – जाता हूं
गते – चलते हुए
गन्धतण्हा –गंध-तृष्णा
गन्धविचारो –गंध-विचार
गन्धवितक्को –गंध-वितर्क
गन्धसञ्चेतना –गंध-संचेतना
गन्धसञ्ञा –गंध-संज्ञा
गन्धा –गंध
गन्धे – गंधों को
गाविं – गाय को
गिज्झेहि – गिद्धों द्वारा
गीवट्ठिकं – ग्रीवा (गर्दन) की हड्डी
गोघातकन्तेवासी – कसाई का शिष्य (शागिर्द)
गोघातको – कसाई
गोप्फकट्ठिकं – टखने की हड्डी
घानं – घ्राण
घानञ्च – और घ्राण को
घानविञ्ञाणं – घ्राणविज्ञान
घानसम्फस्सजा – घ्राण के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली
घानसम्फस्सो – घ्राण का संस्पर्श
चक्खु – चक्षु, आंख
चक्खुञ्च – और चक्षु (आंख) को
चक्खुमा – चक्षुमान, आंख वाला (व्यक्ति)
चक्खुविञ्ञाणं – चक्षुविज्ञान
चक्खुसम्फस्सजा – चक्षु के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली
चक्खुसम्फस्सो – चक्षु का संस्पर्श
चतुत्थं –चतुर्थ
चतुमहापथे – चौराहे पर
चतूसु – चारों में

चत्तारि – चार
चत्तारो – चार
चपरं – और फिर
चवनता – च्यवनता
चागो – त्याग
चित्तं – चित्त
चित्तस्मिं – चित्त में
चित्तानुपस्सना – चित्त की अनुपश्यना
चित्तानुपस्सी – चित्त की अनुपश्यना करने वाला
चित्ते – चित्त में
चुण्णकजातानि – चूर्ण हुई हुईं
चुति – च्युति
चेतसिकं – चैतसिक
चेतसो – चित्त की
छड्डितं – छोड़े हुए
छन्दं – इच्छा, कामना
छसु – छः में
जङ्घट्ठिकं – जांघ की हड्डी
जनेति – पैदा करता है
जरा – बुढ़ापा
जराधम्मा – बूढ़ा होने के स्वभाव वाले
जराधम्मानं – बूढ़ा होने के स्वभाव वालों का
जरापि – बुढ़ापा भी
जागरिते – जागते हुए
जाति – जन्म
जातिधम्मा – जन्मने के स्वभाव वाले
जातिधम्मानं – जन्मने के स्वभाव वालों का
जातिपि – जन्म भी
जिव्हञ्च – और जिह्वा (जीभ) को
जिव्हा – जीभ
जिव्हाविञ्ञाणं – जिह्वा-विज्ञान
जिव्हासम्फस्सजा – जिह्वा (जीभ) के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली
जिव्हासम्फस्सो – जिह्वा (जीभ) का संस्पर्श
जीरणता – जीर्णता
जीवितं – जीवन
जीवितिन्द्रियस्सुपच्छेदो – जीवन का विच्छेद
झानं – ध्यान
ञाणं – ज्ञान
ञाणमत्ताय – मात्र ज्ञान
ञातिसालोहिता – जाति रक्तसंबंधी
ञायस्स – सत्य की
ठितिया – स्थिति से
ठिते – खड़े हुए
ठितो – खड़ा हुआ
ठितोम्हि – खड़ा हूं
तं – उसको
तचपरियन्तं – त्वचा-पर्यंत, चमड़ी तक
तचो – त्वचा
तञ्च – और उसको
तण्डुला – चावल के दाने
तण्डुलानं – चावल के दानों का
तण्हा – तृष्णा
तण्हाय – तृष्णा का
ततियं – तृतीय
तत्र – वहां
तत्रतत्राभिनन्दिनी – वहां-वहां (जिस किसी विषय का) अभिनंदन करने वाली
तथा – वैसे
तदुभयं – उन दोनों को
तम्पि – उसे भी
तम्हा – उससे
तम्हि – उसमें
तस्स – उसका
तस्सायेव – उसी का
तिट्ठतु – रहे
तिट्ठन्तु – रहें
तिला – तिल
तिलानं – तिलों का
तीणि – तीन

तीहमतं – तीन दिन के
तुण्हीभावे – मौन रहते समय
तेजोधातु – अग्निधातु
तेरोवस्सिकानि – वर्षों पुरानी
तेसं – उनका
तेहि – उनके [साथ]
थिनमिद्धं – स्त्यानमृद्ध, तन-मन का आलस
थिनमिद्धस्स – स्त्यानमृद्ध (तन-मन के आलस) का
दक्खो – दक्ष, चतुर
दन्तट्ठिकं – दांत की हड्डी
दन्ता – दांत
दिट्ठेव धम्मे – इसी संसार में
दिसा – दिशा
दीघं – दीर्घ, लंबा
दीपीहि – चीतों द्वारा
दुक्खं – दुःख
दुक्खदोमनस्सानं – दुःख (और) दौर्मनस्य का
दुक्खधम्मेन – दुःख धर्म से
दुक्खनिरोधं – दुःख का निरोध
दुक्खनिरोधगामिनिया – दुःख का निरोध प्राप्त कराने वाली [प्रतिपदा-] संबंधी
दुक्खनिरोधगामिनी – दुःख का निरोध प्राप्त कराने वाली
दुक्खनिरोधे – दुःखनिरोध-संबंधी
दुक्खनिरोधो – दुःख का निरोध
दुक्खं – दुःख
दुक्खसच्चनिद्देसो – दुःखसत्य-संबंधी निर्देश
दुक्खसमुदयं – दुःख-समुदय को
दुक्खसमुदये – दुःखसमुदय-संबंधी
दुक्खसमुदयो – दुःख का समुदय (उत्पत्ति, प्रारंभ, कारण)
दुक्खस्स – दुःख का
दुक्खा – (बहुवचन) दुःख
दुक्खे – दुःख-संबंधी
दुक्खो – (एकवचन) दुःख
दुतियं – द्वितीय
दोमनस्सं – दौर्मनस्य
द्विन्नं – दो में से
द्वीहमतं – दो दिन के
द्वे – दो
धञ्ञस्स – धान्य का
धम्मतण्हा – धर्म-तृष्णा
धम्मविचयसम्बोज्झङ्गं – धर्मविचय-संबोध्यंग
धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्स – धर्मविचय-संबोध्यंग का
धम्मविचयसम्बोज्झङ्गो – धर्मविचय-संबोध्यं
धम्मविचारो – धर्म-विचार
धम्मवितक्को – धर्म-वितर्क
धम्मसञ्चेतना – धर्म-संचेतना
धम्मसञ्ञा – धर्म-संज्ञा
धम्मा – (बहुवचन) धर्म
धम्मानं – धर्मों का
धम्मानुपस्सना – धर्मों की अनुपश्यना
धम्मानुपस्सी – धर्मों की अनुपश्यना करने वाला
धम्मे – धर्मों को
धम्मेसु – धर्मों में
धम्मेहि – धर्मों से
धातुमनसिकारपब्बं – धातुमनसिकार पर्व
धातुसो – धातुशः, धातुओं के अनुसार
नं – उसको
नखा – नख, नाखून
नत्थि – नहीं है
नन्दीरागसहगता – नंदीराग-सहित
नवसिवथिकपब्बं – नौ प्रकार के श्मशानों का पर्व
नानप्पकारस्स – नाना प्रकार के
नानाविहितस्स – नाना प्रकार के
नाम – नाम के
निक्खेपो – निक्षेप, रखना
निगमो – निगम, कस्बा
निट्ठितं – समाप्त, संपूर्ण
निब्बानस्स – निर्वाण का

निमंसलोहितमक्खितं – मांस, लहू रहित
निरामिसं – निरामिष, निर्मल, शुद्ध
निरुज्झति – निरुद्ध हो जाती है
निरुज्झमाना – निरुद्ध होती हुई
निरोधसच्चनिद्देसो – निरोधसत्य-संबंधी निर्देश
निविसति – घुसती है, पैठती है
निविसमाना – घुसती हुई, पैठती हुई
निसिन्ने – बैठे हुए
निसिन्नोम्हि – मैं बैठा हूं
निसीदति – बैठता है
नीवरणपब्बं – नीवरण पर्व
नीवरणेसु – नीवरणों में
नेक्खम्मसङ्कप्पो – नैष्क्रम्य (निष्कामता अथवा संसारत्याग) - संबंधी संकल्प
न्हारु – नस
न्हारुसम्बन्धं – नसों से बंधे हुए को
पग्गण्हाति – रोकता है
पच्चवेक्खति – प्रत्यवेक्षण करता है
पच्चवेक्खेय्य – प्रत्यवेक्षण करे
पच्चस्सोसुं – प्रत्युत्तर दिया
पच्चुपट्ठिता – प्रतिष्ठापित
पजानाति – भली प्रकार जानता है
पञ्च – पांच
पञ्चसु – पांच में
पञ्चुपादानक्खन्धा – पांच उपादान-स्कंध
पटिकूलमनसिकारपब्बं – प्रतिकूलमनसिकार पर्व
पटिक्कन्ते – पीछे हटते हुए
पटिच्च – प्रतीत्य से, हेतु से
पटिनिस्सग्गो – प्रतिनिसर्ग, परित्याग
पटिपदा – प्रतिपदा, मार्ग (उपाय)
पटिपदाय – प्रतिपदा-संबंधी
पटिलाभो – प्रतिलाभ, प्राप्ति
पटिसंवेदेति – अनुभव करता है
पटिस्सतिमत्ताय – केवल दर्शन
पठमं – प्रथम
पणिधाय – स्थापित कर, रख कर
पणिहितो – प्रणिहित, अवस्थित
पत्तब्बं – प्राप्तव्य, प्राप्त होने (मिलने) वाला
पथवीधातु -पृथ्वीधातु
पदहति – प्रयत्न करता है
पन – और, अभी, लेकिन, इसके विरुद्ध, अब, इसके अतिरिक्त
पनस्स – इसकी
पनेतं – पर यह
पनेसा – फिर यह
पप्फासं – फेफड़े
परिदेवना – रोना-पीटना
परिदेवितत्तं – रोना-पीटना
परिदेवो – रोना-पीटना
परिपाको – परिपाक, पकना, प्रौढ़ होना
परिमुखं – मुख के इर्दगिर्द, मुख के ऊपर
पल्लङ्कं – पर्यंक, पालथी
पसारिते – फैलाये हुए
पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गं – प्रश्रब्धि-संबोध्यंग
पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स – प्रश्रब्धि-संबोध्यंग का
पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गो – प्रश्रब्धि-संबोध्यंग
पस्सम्भयं – प्रश्रब्ध (शांत) करते हुए
पस्ससति – सांस छोड़ता है
पस्ससन्तो – सांस छोड़ता हुआ
पस्ससामि – सांस छोड़ता हूं
पस्ससिस्सामि – सांस छोड़ूंगा
पस्सेय्य – देखे
पहानं – प्रहाण, परित्याग
पहाना – प्रहाण से, परित्याग से
पहानाय – प्रहाण के लिए
पहाय – प्रहाण कर, परित्याग कर
पहीनस्स – प्रहीण हुए हुए का, विनष्ट हुए हुए का
पहीनाय – प्रहीण हुई का
पहीयति – प्रहीण होता है, पूरी तरह छुट जाता है

पहीयमाना – प्रहीण होती हुई, पूरी तरह छुटती हुई
पाटिकङ्खं – आशा रखना
पाणकजातेहि – प्राणियों द्वारा
पाणातिपाता – प्राणियों की हिंसा से
पातुभावो – प्रादुर्भाव
पादट्ठिकं – पांव की हड्डी
पादतला – पांव के तलवे से
पापकानं – पापपूर्ण [धर्मों] का
पारिपूरिया – परिपूर्ण हो जाने से
पारिपूरी – पूर्णता
पालिच्चं – (सिर) सफेद होना
पिट्ठिट्ठिकं – पीठ की हड्डी
पिता – पिता, जनक
पित्तं – पित्त
पियरूपं – प्रिय लगने वाला
पियेहि – प्रियों द्वारा
पिसुणाय – चुगली खाने से
पिहकं – प्लीहा
पीतिया – प्रीति से
पीतिसम्बोज्झङ्गं – प्रीति-संबोध्यंग को
पीतिसम्बोज्झङ्गस्स – प्रीति-संबोध्यंग का
पीतिसम्बोज्झङ्गो – प्रीति-संबोध्यंग
पीतिसुखं – प्रीति (और) सुख वाले
पीते – पीते हुए
पुञ्जकितानि – ढेर लगी हुई
पुतोळि – पोटली, बोरी
पुन – पुनः, फिर
पुब्बेव – पूर्व में ही, पहले ही
पुब्बो – पीब
पुरिसो – पुरुष
पूतीनि – सड़ी हुई
पूरं – पूर्ण, भरा हुआ
पूरा – भरी हुई
पोनोब्भविका – पुनः पुनः (बार-बार) उत्पन्न होने वाली
फरुसाय – परुष (कठोर) [वचन] से
फलं – फल, परिणाम
फलानं – फलों (परिणामों) की
फासुककामा – सुविधा चाहने वाले
फासुकट्ठिकं – पसली की हड्डी
फुट्ठस्स – स्पृष्ट (छुए हुए) का
फोट्ठब्बतण्हा – स्प्रष्टव्य-तृष्णा
फोट्ठब्बविचारो – स्प्रष्टव्य-विचार
फोट्ठब्बवितक्को – स्प्रष्टव्य-वितर्क
फोट्ठब्बसञ्चेतना – स्प्रष्टव्य-संचेतना
फोट्ठब्बसञ्ञा – स्प्रष्टव्य-संज्ञा
फोट्ठब्बा – (बहुवचन) स्प्रष्टव्य
फोट्ठब्बे – स्प्रष्टव्यों को
बहिद्धा – बाहर
बिलसो – अलग-अलग ढेरियां बना कर
बोज्झङ्गपब्बं – बोध्यंग पर्व
बोज्झङ्गेसु – बोध्यंगों में
ब्यग्घेहि – व्याघ्रों (बाघों) द्वारा
ब्यसनेन – व्यसन (विपत्ति) से
ब्याधि – व्याधि, रोग
ब्याधिधम्मा – व्याधि धर्म (स्वभाव) वाले
ब्याधिधम्मानं – व्याधि धर्म (स्वभाव) वालों का
ब्यापादं – व्यापाद (द्रोह, द्वेष) को
ब्यापादस्स – व्यापाद (द्रोह, द्वेष) का
ब्यापादो – व्यापाद, द्रोह, द्वेष
भगवतो – भगवान का
भगवा – भगवान
भगिनी – बहन
भद्दन्त – भदंत
भमकारन्तेवासी – सुथार का शिष्य (शागिर्द)
भमकारो – सुथार
भवतण्हा – भवतृष्णा
भाता – भ्राता, भाई
भावनाय – भावना की
भावेय्य – भावना करे
भासितं – कहा हुआ
भासिते – बोलते हुए
भिक्खवे – भिक्षुओ !

भिक्खवो – भिक्षुओ !
भिक्खु – (एकवचन) भिक्षु
भिक्खू – (बहुवचन) भिक्षु
भिय्योभावाय – वृद्धि (बहुलता, बढ़ोतरी) के लिए
भेदो – भेद, अलगाव
मंसं – मांस
मग्गसच्चनिद्देसो – मार्गसत्य-संबंधी निर्देश
मग्गो – मार्ग
मच्चु – मृत्यु
मनञ्च – और मन को
मनापा – मनोनुकूल
मनो – मन
मनोविञ्ञाणं – मनोविज्ञान
मनोसम्फस्सजं – मन के संस्पर्श से उत्पन्न हुए को
मनोसम्फस्सजा – मन के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली
मनोसम्फस्सो – मन का संस्पर्श
मयं – हम
मरणं – मरण, मरना
मरणधम्मा – मरणधर्मा, मरने के स्वभाव वाले
मरणधम्मानं – मरणधर्मा [प्राणियों] की
मरणम्पि – मरण (मरना) भी
महग्गतं – महद्गत, प्रवृद्ध, खूब बढ़ा हुआ
महासतिपट्ठानसुत्तं – महासतिपट्ठान सुत्त, महास्मृतिप्रस्थान सूत्र
महासतिपट्ठानसुत्तानिसंसं – महासतिपट्ठान सुत्त का शुभ परिणाम
माता – माता, जननी
मासं – मास-पर्यंत
मासा – माष
मासानं – माषों की
मासानि – (बहुवचन) मास
मिच्छाआजीवं – मिथ्या आजीविका
मित्ता – मित्र
मिस्सीभावो – मिश्रण
मुग्गा – मूंग
मुग्गानं – मूंगों की
मुञ्चित्वा – छोड़ कर
मुत्तं – मूत्र
मुत्ति – मुक्ति
मुसावादा – मृषावाद (झूठ बोलने) से
मेदो – चर्बी
यं – जिसको
यकनं – यकृत
यञ्च – और जिसे
यथा – जैसे
यथाठितं – यथास्थित (जैसे स्थित हो)
यथापणिहितं – यथावस्थित (जैसे अवस्थित हो)
यथाभूतं – यथाभूत, यथार्थ
यदिदं – जो यह
यम्पिच्छं – जिसकी इच्छा करे, अभीप्सित
यस्स – जिसकी
यायं – जो यह
यावदेव – जब तक भी
योगक्खेमकामा – योगक्षेम चाहने वाले
रसतण्हा – रस-तृष्णा
रसविचारो – रस-विचार
रसवितक्को – रस-वितर्क
रससञ्चेतना – रस-संचेतना
रससञ्ञा – रस-संज्ञा
रसा – (बहुवचन) रस
रसे – रसों को
रस्सं – ह्रस्व, ओछा
रुक्खमूलगतो – वृक्ष-तले बैठा हुआ
रूपं – रूप को
रूपतण्हा – रूप-तृष्णा
रूपविचारो – रूप-विचार
रूपवितक्को – रूप-वितर्क
रूपसञ्चेतना – रूप-संचेतना
रूपसञ्ञा – रूप-संज्ञा

रूपस्स – रूप का
रूपा – (बहुवचन) रूप
रूपुपादानक्खन्धो – रूप उपादान-स्कंध
रूपे – रूपों को
लभति – प्राप्त करता है
लसिका – शरीर के जोड़ों को चिकना रखने वाला तरल पदार्थ
लोके – [साढ़े तीन हाथ के काया-रूपी] लोक में
लोमा – लोम, शरीर के बाल
लोहितं – लहू
वक्कं – वृक्क, गुर्दा
वत – निश्चय ही
वधित्वा – मार कर
वयधम्मानुपस्सी – व्ययधर्म की अनुपश्यना करने वाला
वलित्तचता – (गात्र पर) झुर्रियां पड़ना
वसा – चर्बी
वस्सं – वर्ष भर
वस्सानि – (बहुवचन) वर्ष
वाचाय – वाणी से
वायमति – व्यायाम (उद्योग) करता है
वायोधातु –वायुधातु
विक्खित्तं – विक्षिप्त, बिखरा हुआ
विक्खित्तानि – विक्षिप्त, बिखरे हुए
विचिकिच्छं – विचिकित्सा (संदेह) को
विचिकिच्छा – विचिकित्सा, संदेह
विञ्ञाणं – विज्ञान
विञ्ञाणस्स – विज्ञान का
विञ्ञाणुपादानक्खन्धो – विज्ञान उपादान-स्कंध
वितक्कविचारानं – वितर्क (और) विचार के
विदिसा – विदिशा
विनीलकं – नीलवर्ण (नीले पड़े हुए) को
विनेय्य – दूर कर
विपुब्बकजातं – पीब-चूते हुए को
विप्पयोगो – वियोग
विभजित्वा – विभाजन कर, वर्गीकरण कर
विभवतण्हा – विभव-तृष्णा
विमुत्तं – विमुक्त, मुक्त हुआ
विरागा – विरक्त होकर
विलोकिते – आड़े-तिरछे देखते हुए
विविच्च – अलग होकर
विविच्चेव – अलग होकर ही
विविधेहि – विविध प्रकार के [प्राणियों से]
विवेकजं – विवेक से उत्पन्न हुए को
विसुद्धिया – विशुद्धि (विमुक्ति) के लिए
विहरति – विहार करता (विहरता) है
वीतदोसं – वीतद्वेष को
वीतमोहं – वीतमोह को
वीतरागं – वीतराग को
वीरियं – वीर्य को
वीरियसम्बोज्झङ्गं – वीर्य-संबोध्यंग को
वीरियसम्बोज्झङ्गस्स – वीर्य-संबोध्यंग की
वीरियसम्बोज्झङ्गो – वीर्य-संबोध्यंग
वीही – व्रीहि, धान
वीहीनं – व्रीहि (धान) की
वुच्चति – कहा जाता है, कहलाता है
वुच्चन्ति – कहे जाते हैं, कहलाते हैं
वुत्तं – कहा गया
वूपसमा – शांत हो जाने पर
वेदनं – वेदना को
वेदना – वेदना, संवेदना
वेदनानुपस्सना – वेदनाओं की अनुपश्यना
वेदनानुपस्सी – वेदनाओं की अनुपश्यना करने वाला
वेदनाय – वेदना का
वेदनासु – वेदनाओं में
वेदनुपादानक्खन्धो – वेदना उपादान-स्कंध
वेदयमानो – अनुभव करता हुआ
वेदयामि – अनुभव कर रहा हूं
वेदयितं – अनुभूति को
वेपुल्लाय – विपुलता के लिए

वेरमणी – विरति
संयोजनं – संयोजन, बंधन
संयोजनस्स – संयोजन (बंधन) की
संहानि – हानि
सउत्तरं – जिससे बढ़ कर कुछ हो
सङ्खवण्णपटिभागानि – शंख के समान वर्ण वालीं
सङ्खारा – संस्कार
सङ्खारानं – संस्कारों का
सङ्खारुपादानक्खन्धो – संस्कार उपादान-स्कंध
सङ्खित्तं – संक्षिप्त
सङ्खित्तेन – संक्षेप में
सङ्गति – मेल
सङ्घाटिपत्तचीवरधारणे – वस्त्र चीवर, पात्र आदि धारण करते हुए
सच्चपब्बं – सत्य पर्व
सच्छिकिरियाय – साक्षात्कार करने के लिए
सञ्जाति – उत्पत्ति
सञ्ञा – संज्ञा
सञ्ञाय – संज्ञा का
सञ्ञुपादानक्खन्धो – संज्ञा उपादान-स्कंध
सति – होने पर
सतिं – स्मृति को
सतिपट्ठाना – स्मृति-प्रस्थान
सतिपट्ठाने – स्मृतिप्रस्थानों को
सतिमा – स्मृतिमान
सतिसम्बोज्झङ्गं – स्मृति-संबोध्यंग को
सतिसम्बोज्झङ्गस्स – स्मृति-संबोध्यंग की
सतिसम्बोज्झङ्गो – स्मृति-संबोध्यंग
सतो – स्मृतिमान
सतोव – स्मृतिमान होकर
सत्त – सात
सत्तनिकाया – सत्त्वनिकाय (योनि) से
सत्तनिकाये – सत्त्वनिकाय (योनि) में
सत्तमासानि – सात माह पर्यंत
सत्तवस्सानि – सात वर्ष पर्यंत
सत्तसु – सात में
सत्तानं – सत्त्वों (प्राणियों) का
सत्ताहं – सात दिन
सदोसं – द्वेषयुक्त
सद्दतण्हा – शब्द-तृष्णा
सद्दविचारो – शब्द-विचार
सद्दवितक्को – शब्द-वितर्क
सद्दसञ्चेतना – शब्द-संचेतना
सद्दसञ्ञा – शब्द-संज्ञा
सद्दा – शब्द
सद्दे – शब्दों को
सद्धिं – साथ
सन्तं – विद्यमान होते हुए
सब्बकायपटिसंवेदी – सारी काया के प्रति संवेदनशील
समंसलोहितं – मांसयुक्त एवं लहू से सने हुए को
समतिक्कमाय – सम्यक प्रकार से अतिक्रमण (विनाश) करने के लिए
समन्नागतस्स – युक्त हुए हुए का
समयं – समय
समागमो – समागम, मिलाप
समाधिजं – समाधि से उत्पन्न
समाधिसम्बोज्झङ्गं – समाधि-संबोध्यंग को
समाधिसम्बोज्झङ्गस्स – समाधि-संबोध्यंग की
समाधिसम्बोज्झङ्गो – समाधि-संबोध्यंग
समाहितं – समाहित, एकाग्रचित्त
समिञ्जिते – सिकोड़ते हुए
समुदयधम्मानुपस्सी – समुदयधर्म की अनुपश्यना करने वाला
समुदयवयधम्मानुपस्सी – समुदय (-एवं-) व्यय धर्म की अनुपश्यना करने वाला
समुदयसच्चनिद्देसो – समुदयसत्य-संबंधी निर्देश
समुदयो – समुदय, उत्पत्ति, आरंभ, कारण
समोधानं – समवधान (मेल)

समोहं – मोहयुक्त
सम्पजानकारी – संप्रज्ञानी
सम्पजानपब्बं – संप्रज्ञान पर्व
सम्पजानो – संप्रज्ञानी
सम्पयोगो – संयोग
सम्पसादनं – सम्यक प्रसाद, प्रशांति
सम्फप्पलापा – (व्यर्थ) बकवाद से
सम्माआजीवेन – सम्यक आजीविका से
सम्माआजीवो – सम्यक आजीविका
सम्माकम्मन्तो – सम्यक कर्मांत
सम्मादिट्ठि – सम्यक दृष्टि, सम्यक दर्शन
सम्मावाचा – सम्यक वचन, सम्यक वाणी
सम्मावायामो – सम्यक व्यायाम, सम्यक उद्योग
सम्मासङ्कप्पो – सम्यक संकल्प
सम्मासति – सम्यक स्मृति
सम्मासमाधि – सम्यक समाधि
सयानो – शयन करते हुए, सोते हुए
सयानोम्हि – शयन कर रहा हूं
सरागं – रागयुक्त
सरीरं – शरीर
सविचारं – स-विचार, विचार-सहित
सवितक्कं – स-वितर्क, वितर्क-सहित
सातरूपं – अच्छा लगने वाला, आनंददायक
सामिसं – सामिष, मैला, अशुद्ध
सायिते – शयन करते (सोते) समय
साली – शालि, चावल
सालीनं – चावलों की
सिक्खति – सीखता है
सिङ्गालेहि – शृगालों (सियारों) द्वारा
सिङ्घाणिका – नाक की सींढ
सिवथिकाय – श्मशान में
सीसकटाहं – खोपड़ी
सुखं – सुख
सुखञ्च – और सुख को
सुखविहारी – सुखपूर्वक विहार करने वाला
सुखस्स – सुख की
सुञ्ञागारगतो – शून्यागार में गया हुआ
सुतं – सुना गया
सुत्ते – सोये हुए
सुनखेहि – कुत्तों द्वारा
सेतानि – श्वेत, सफेद
सेदो – स्वेद, पसीना
सेम्हं – श्लेष्म, कफ
सेय्यथापि – जैसे
सेय्यथिदं – जैसे कि ये (आगे निर्दिष्ट)
सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासधम्मा – शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य (और) उपायास स्वभाव वाले
सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासधम्मानं – शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य (और) उपायास स्वभाव वालों का
सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासापि – शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य (और) उपायास भी
सोकपरिदेवानं – शोक और परिदेव (क्रंदन, रोने-पीटने) का
सोको – शोक
सोचना – शोचना (शोक)
सोचितत्तं – शोचितत्व (शोक)
सोतं – श्रोत्र
सोतञ्च – और श्रोत्र को
सोतविञ्ञाणं – श्रोत्रविज्ञान
सोतसम्फस्सजा – श्रोत्र के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली
सोतसम्फस्सो – श्रोत्र का संस्पर्श
सोमनस्सदोमनस्सानं – सौमनस्य (और) दौर्मनस्य का
हत्थट्ठिकं – हाथ की हड्डी
हदयं – हृदय
हनुकट्ठिकं – ढोड़ी की हड्डी
हितकामा – हित (भला) चाहने वाले
होति – होता है
होन्ति – होते हैं

विपश्यना साहित्य

हिंदी :

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, भाग- १ एवं २

धर्म: जीवन जीने की कला

जागे पावन प्रेरणा

जागे अंतर्बोध

प्रवचन सारांश (शिविर-प्रवचन)

निर्मल धारा धर्म की (विपश्यना आचार्य गोयन्काजी के पांच दिवसीय सार्वजनिक प्रवचन)

मंगल हुआ प्रभात (हिंदी दोहे)

धम्मगीतं (पालि गाथाएं, हिंदी अनु.)

सतिपट्ठानसुत्त (भाषानुवाद एवं समीक्षा सहित)

मराठी :

धर्म जीवन जगण्याची कला

शांतिपथ

प्रवचन सारांश

जागे पावन प्रेरणा

गुजराती :

धर्म : जीवन जीववानी कला

विपश्यना (शिविर-प्रवचन)

विपश्यना शा माटे ?

पहले अने हवे

पालि तिपिटक :

दीघनिकाय (११ खंड)

मज्झिमनिकाय (११ खंड)

संयुत्तनिकाय (१२ खंड)

अङ्गुत्तरनिकाय (१२ खंड)

खुद्दकनिकाय – सेट १ (९ खंड)

ENGLISH :

Vipassana Journal

Essence of Tipitaka

The Art of Living : Vipassana Meditation, by William Hart

The Discourse Summaries

The Gracious Flow of Dharma (Three-day Public Talk by Shri S.N. Goenka)

A Re-appraisal of Patanjali's Yoga Sutra in Light of the Buddha's Teachings by S. N. Tandon

Healing the Healer by Dr. Paul Fleischman

Vipassana: Its Relevance to the Present World

Come, People of the World

Mahasatipatthana Sutta (Roman Pali with Eng. Trans.)

Pali Primer

संपर्क :

विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि,
इगतपुरी-४२२४०३,
जि. नाशिक, महाराष्ट्र.
फोन: ०२५३३-४००७६,
४०८६, ४३०२.
फैक्स: ०२५३३-४१७६.

विपश्यना साधना केंद्र-सूची

धम्मगिरि, विपश्यना विश्व विद्यापीठ
पो. बाक्स नं. ६, इगतपुरी-४२२४०३
फोनः (०२५३३)४०७६, ४०८६
फैक्सः [९१] (०२५३३) ४१७६

धम्मथली, विपश्यना केंद्र
(सिसोदिया रानी बाग से होकर गल्ताजी)
पो. बॉ. नं. २०८, जयपुर-३०२ ००१
फोनः (०१४१)४९५२०/४९३११

धम्मखेत्त, विपश्यना साधना केंद्र
कुसुम नगर
१२.६ किमी. नागार्जुन सागर रोड
हैदराबाद-५०००७०, (आंध्र प्रदेश)
फोनः ०४०-४०२०२९३/४०२१७४६

धम्मगंगा, विपश्यना केंद्र, सोदपुर
पोष्ट- पनिहटी-७४३१७६
जिला- २४ परगाना, (प. बंगाल)
(कलकत्ता) फोनः (०३३)५५३२८५५

धम्मतिहाड़, केंद्रीय कारागार, दिल्ली

धम्मसिंधु, कच्छ विपश्यना केंद्र, ग्राम-बाड़ा
माण्डवी-कच्छ (गुजरात) पिनः ३७०४७५
फोनः बाड़ा –(०२८३४७) ३३०३
मांडवी –(०२८३४) २००७६

धम्मालय, दक्खिन विपश्यना केंद्र
माजले बस स्टँडजवळ
हातकानंगळे-४१६१०९, कोल्हापुर
(महाराष्ट्र) फोनः ०२३२- ४८३३१६

धम्मसलिल, देहरादून विपश्यना केंद्र
संपर्क– १६, टागोर विला, चक्रता रोड
देहरादून- २८४००१ (उ. प्र.)
फोनः ०१३५-६५४१८९

धर्मशृंग, नेपाल विपश्यना केंद्र, मुहानपोखरी
बूढ़ा नीलकंठ, पो. बॉक्स १३३
काठमांडू, (नेपाल) फोनः [९७७] (०१)
२५५ ४९०, फैक्सः ९७७-१-२३३ ०६७

निर्माणाधीन विपश्यना केंद्र-सूची :–

धम्मनाग, नागपुर (महाराष्ट्र) फोनः (०७१२) ५५८६८६
धम्मसरोवर, धुले (महाराष्ट्र) फोनः (०२५६२) २३५६८, २२७४१
धम्मसोत, (दिल्ली-हरियाणा) फोनः (०११) ६८०१३४९
धम्मसिखर, धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश) फैक्सः (०१८९२) २४५२८
धम्मचक्क, सारनाथ (उ. प्र.) फोनः (०५४२) ३८६४५७, ४६६४४
धम्मविमुत्ति, कुशीनगर (उ. प्र.) फोनः (०५५१) ३३५८०५, ३३६४६९
धम्मबोधि, बोधगया (बिहार) फोनः (०६१२) ३५२८७४
धम्मलिच्छवि, वैशाली (बिहार) फोनः (०६२१) २४३४०७, २४३२०६
धम्मसेतु, मद्रास (तमिलनाडु) फोनः (०४४) ५८५१९५, ५८७३९९
धम्मसुमन, बैंगलोर (कर्नाटक) फोनः (०८०) ३३६०८९६
धम्मपाल, भोपाल (म. प्र.) फोनः (०७५५) ५६३११३, ५५७७६१
धम्मकानन, बालाघाट (म. प्र.) फोनः (०७६३२) २५५४
धम्मकेतु, दुर्ग-भिलाई (म. प्र.) फोनः (०७३३) ३२१५३९
धम्मकोट, राजकोट (गुजरात) फोनः (०२८१) ३२१८७, ३४७८९
धम्मपीठ, अहमदाबाद (गुजरात) फोनः (०७९) ५६२४६३१
धम्मतराई, बीरगंज (नेपाल). धर्मशृंग से संपर्क करे।
धम्मजननी, लुंबिनी (नेपाल). धर्मशृंग से संपर्क करे।

विदेशी केंद्रों की जानकारी के लिए धम्मगिरि, इगतपुरी से संपर्क करें।